हिन्दी-साहित्य-रत्नाकर

[ग्यारह प्राचीन कवियों का समीक्षात्मक अध्ययन]

लेखक

डा० विमल कुमार जैन एम० ए०, (पी एच० डी०)

हिन्दी विभाग, दिल्ली कालेज, दिल्ली

प्रकाशक

नैशनल पब्लिशिंग हाउस

नई सड़क, दिल्ली

१९५५

मूल्य
पांच रुपए

मुद्रक
मनमोहन प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली

आमुख

मैंने डा० विमलकुमार जैन की 'हिन्दी-साहित्य-रत्नाकर' नाम्नी नवीन कृति का अवलोकन किया है। यह ग्रन्थ हिन्दी के प्राचीन वरिष्ठ कवियों पर उनके स्फुट लेखों का सुन्दर संकलन है, जिनमे इन कवियों के जीवन-चरित सम्बन्धी गवेषणात्मक परिचय के साथ-साथ उनके काव्य की भी विस्तृत आलोचना की गई है। डा० जैन हिन्दी के अनुभवी एवं अध्यवसायी प्राध्यापक हैं। प्राचीन काव्य का—विशेष रूप से भक्ति काव्य का—उन्होंने बड़े मनोयोग से परिश्रमपूर्वक अध्ययन किया है।

प्राध्यापक होने के नाते उन्हें विद्यार्थी-वर्ग की शंकाओं तथा समस्याओं का प्रत्यक्ष अनुभव है। अतः उनकी समीक्षा में जिज्ञासुओं की आवश्यकता की पूर्त्ति मिलना सहज स्वाभाविक है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी के विद्यार्थी, पाठक एवं जिज्ञासु पुरुष प्रस्तुत ग्रन्थ का उपयोग कर विद्वान् लेखक के अध्ययन-अनुभव से लाभ उठाएँगे।

नगेन्द्र
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

प्राक्कथन

हिन्दी-साहित्य के प्रमुख कवियों एवं मान्य लेखकों पर पर्याप्त लिखा जा चुका है। लिखित सामग्री हमें दो रूपों में उपलब्ध होती है--एक तो पृथक्-पृथक् कलाकारों पर पृथक्-पृथक् पुस्तक के रूप में और दूसरी भिन्न-भिन्न पुस्तको मे लेखक द्वारा कुछ निश्चित अग्रणी साहित्यकारों एवं साहित्य की सूक्ष्म समीक्षा के रूप में।

प्रथम प्रकार की पुस्तके प्रायः महाकाय और आलोचनात्मक अनेक दृष्टिकोणों से अपूर्ण-सी है अतः पाठक को एक कवि या लेखक की साहित्यिक साधना एवं उसकी सरणी से प्रगाढ़ परिचय प्राप्त करने के लिए तद्विषयक अनेक पुस्तके अवगाहित करनी पड़ती हैं। तब कही वह मन्थन कर अमृत-पात्र बनता है। यह प्रक्रिया किशोर या युवक शिक्षा-साधकों के लिए कष्ट-साध्य है। कभी-कभी तो उन्हे विचित्र कृति से निराश हो कर 'पर्वत-खनन पर मूपकोपलब्धि' कह कर अपनी हताशा प्रदर्शित करनी पड़ती है। द्वितीय ढग की पुस्तकों मे चार-चार, छः-छः पृष्ठों मे भिन्न-भिन्न कलाकारो पर केवल दृष्टिपात ही दृष्टिगोचर होता है। उनमे न उनके जीवन का तर्कपूर्ण विवरण है, न उनकी रचनाओं का कलापूर्ण चित्राकन है और न उनकी पद्धति का वास्तविक परिचय ही है। ये चित्र विचित्र और बहुरंगी न होने से कोमलहृदय के लिए निपट सरल तो होते है परन्तु घृष्ट और परिपक्व मस्तिष्क की कसौटी पर हलके उतरते हैं। केवल एक-दो पुस्तकें ही देखने मे आईं जिनमें 'नातिविस्तृत नातिसंकुचित' शैली का अनुसरण किया गया है। इस अभाव की पूर्ति के निमित्त ही इसी शैली पर मैंने हिन्दी-साहित्य-रत्नाकर के कुछ अमूल्य रत्नो का उनकी साहित्य-प्रभा के साथ मूल्यांकन करके उसे 'हिन्दी-साहित्य-रत्नाकर' के रूप मे विद्वत्पारखियों के समक्ष समुपस्थित किया है।

इस 'हिन्दी-साहित्य-रत्नाकर' की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं जो प्रज्ञ पाठको की दृष्टि मे इसे एतद्विषयक अन्य पुस्तकों की अपेक्षा गौरवान्वित करेंगी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह ग्रन्थ न अत्यन्त विस्तृत और न अत्यन्त संकुचित शैली में लिखा गया है। इसमें हिन्दी-साहित्य के प्राचीन महान् साहित्य-स्रष्टाओं के जीवन एवं उनकी रचनाओं पर गम्भीर दृष्टिपात किया गया है। इसमे वीरगाथा काल, भक्तिकाल और रीतिकाल के ग्यारह

महान् कवियों को रखा गया है, जिनमे आदि और मध्य काल के सांध्यसमय मे हुए मैथिलकोकिल भी सम्मिलित है। ये महानुभाव ये है—महाकवि चन्द, कविशेखर विद्यापति, महात्मा कबीर, सूफीसन्त जायसी, प्रज्ञाचक्षु सूर, हरि-प्रिय तुलसी, माधवमना मीरा, कलाकुशल केशव, वीरभूषण भूषण, मनोहारी बिहारी और आचार्य देव।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्योदधि के प्राय: सभी प्राचीन रत्न अपनी विमल प्रभा के साथ इसमें विद्यमान है। इसमे इन उपर्युक्त महानुभावों के जीवन का तर्कपूर्ण विवरण भी है और साथ ही इनकी निखिल कृतियों की विविध-विषया समीक्षा भी है। इनके जीवन-वृत्तान्त मे अन्त:साक्ष्य और बहि:साक्ष्य दोनों का ही अवलम्ब लिया गया है। समीक्षा मे सर्वत्र मौलिकता का ही प्राधान्य है। भाषा में शब्द-चयन और वाक्यविन्यास को यथासंभव सुरुचिपूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है तथा इस प्रकार शैली को मैली होने मे सुरक्षित रक्खा गया है।

विद्वज्जनानुचर—

विमलकुमार जैन

सूची

चन्द वरदाई

हिन्दी-साहित्योदधि के अमूल्य रत्न महाकवि चन्द का जन्म सं० १२०५ में हुआ था क्योंकि रासो मे महाराज पृथ्वीराज का जन्मकाल सं० १११५ दिया हुआ है। मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या आदि विद्वानों के मतानुसार अनन्द सवत् और विक्रम संवत् में ९० वर्ष का अन्तर है अतः उस समय विक्रम संवत् १२०५ था। रासो मे लिखा है—

इक दीह उपज इक दीह समायकम।

अर्थात् पृथ्वीराज और चन्द एक ही दिन उत्पन्न हुए थे और एक ही दिन इनका निधन हुआ था। अतः चन्द का जन्म सवत् भी १२०५ ही हुआ।

वंश-परिचय—रासो के अनुसार कवि चन्द के पिता का नाम गावबेनू था। वे जगात गोत्र के भट्ट ब्राह्मण थे। उनका निवास स्थान लाहौर था। चन्द का जन्म वहीं हुआ था। कुछ लोग इन्हे सूरदास का पूर्वज मानते है और सारस्वत ब्राह्मण सिद्ध करते है। इस विषय मे वे सूरदास की साहित्य लहरी के निम्न पद का प्रमाण देते है, जिसमें सूर की वंश-परम्परा दी हुई है—

प्रथम ही प्रभु यज्ञ ते मे प्रकट अदभुत रूप,
ब्रह्मराम विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप।
पान पय देवी दियो सिव आदि सुर सुख पाय,
कह्यो दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति अधिकाय।
पारि पायन सुरन के सुर सहित अस्तुति कीन,
तासु वंस प्रसंस में भौ चंद चारु नवीन।
भूप पृथ्वीराज दीनो तिन्हें ज्वाला देश,
तनय ताके चार कीनों प्रथम आप नरेस।
दूसरे गुनचंद ता सुत सीलचंद सरूप,
वीरचंद प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप।
रंथभौर हमीर भूपति सग खेलन जाय,
तासु वंस अनूप भो हरिचंद अति विख्याय।
आगरे रहि गोपचल में रह्यो ता सुत वीर,
पुत्र जन्मे सात ताके महाभट गंभीर।
कृष्णचंद, उदारचंद जु रूपचंद सुभाइ,
बुद्धिचंद प्रकास चौथे चंद सुखराइ।
देवचंद प्रबोध संसृतचंद ताको नाम,
भयो सप्तो नाम सूरजचंद मंद निकाम।

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को नागौर निवासी नानूराम भाट से, जो अपने को चन्द का वंशज बतलाता था, एक वंश-तालिका मिली थी जिसके अनुसार नानूराम चन्द की ग्यारहवीं पीढ़ी में हुए। उस तालिका के अनुसार सूरदास तक की परम्परा निम्नलिखित है —
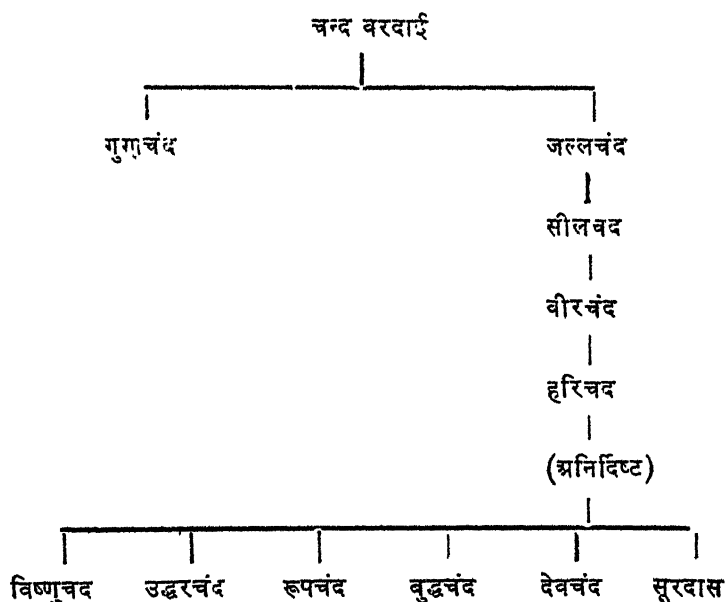
इस तालिका और साहित्य लहरी की परम्परा में केवल इतना अन्तर है कि इसमें वह जल्लचन्द से प्रारम्भ होती है जब कि साहित्यलहरी में गुणचन्द से। इसके अतिरिक्त नामों में विशेष अन्तर नहीं है। केवल कहीं कहीं नगण्य भेद दीख पड़ता है, यथा साहित्यलहरी में कृष्णचन्द है और नानूराम से प्राप्त वंशावली में विष्णुचन्द। इसी प्रकार उधारचन्द और उद्धरचन्द, बुद्धिचन्द और बुद्धचन्द एवं सूरजचन्द और सूरजदास का भेद भी महत्वपूर्ण नहीं। कुछ विद्वानों ने साहित्यलहरी के उक्त पद को सूरविरचित नहीं माना है परन्तु जब तक कोई अकाट्य प्रमाण न हो इसे प्रक्षिप्त नहीं माना जा सकता।

चन्द के जन्मानन्तर राववेनू अजमेर चले आये और उन्होंने पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के दरबार में आश्रय ले लिया अतः चन्द का पालन-पोषण और शिक्षण पृथ्वीराज के साथ ही हुए। पारस्परिक प्रगाढ़ सम्पर्क से इन दोनों में बाल्यकाल से ही घनिष्ठता हो गई। चन्द निसर्गतः ही एक प्रतिभा-शील कवि थे। जब पृथ्वीराज ने शासनभार सँभाला तो चन्द उनके दरबारी

कवि बने। दरबारी कवि होने के अतिरिक्त वे उनके परम सखा और सामन्त भी थे। आहार-बिहार आदि सभी अवसरों पर वे सदैव साथ ही रहते थे।

चन्द के दो विवाह हुए—पहला कमला के साथ और दूसरा गौरी के साथ। गौरी लघ्वी होने के साथ साथ परम सुन्दरी और विदुषी भी थी अतः उसके प्रति चन्द का अनुराग अत्यधिक था। रासो के निर्माण में उसकी प्रेरणा और सहयोग का बड़ा हाथ दीख पड़ता है क्योंकि रासो की कथा गौरी-चन्द के प्रश्नोत्तर के रूप में ही है। गौरी महाराज पृथ्वीराज के जीवन सम्बन्धी घटनाओं के विषय में प्रश्न करती है और चन्द उत्तर देते हैं।

इनके दस पुत्र और एक पुत्री हुई। रासो में दसौ पुत्रों के नाम मिलते है परन्तु अन्यत्र दस पुत्रों में से केवल दो के ही नाम उपलब्ध है—एक गुणचन्द और दूसरा जल्लचन्द। जल्लचन्द को चन्द ने जल्हण लिखा है। पुत्री का नाम बाई था। इन सब में जल्लण ही योग्यतम और सुशिक्षित था —

दहति पुत्र कवि चंद के, सुंदर रूप सुजान।
इक जल्हण गुन बावरो, गुन समुंद समान॥

रचना—चन्द ने महाराज पृथ्वीराज की प्रशंसा में 'पृथ्वीराज रासो' नाम का एक वृहत् काव्य ६९ समयों मे लिखा। इसमे आबू के यज्ञकुंड से चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति तथा पुनः चौहानों के अजमेर में राज-स्थापन से लेकर शहाबुद्दीन गौरी द्वारा पृथ्वीराज को बन्दी बनाकर गजनी ले जाने तक की कथा विस्तारपूर्वक दी हुई है।

पृथ्वीराज के गज़नी ले जाए जाने के पश्चात् चन्द भी असमाप्त रासो को अपने योग्य पुत्र जल्हण के हाथों में सौंप कर गजनी चले गए —

पुस्तक जल्हण हत्थ दै चले गज्जन नृपकाज।

और वहां षडयंत्र रच कर कविता में संकेत करके पृथ्वीराज से शब्दबेधी बाण द्वारा गोरी की हत्या कराकर स्वयं भी परस्पर आघात कर निधन को प्राप्त हुए।

पृथ्वीराज रासो—इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। रासो के अनुसार इसकी समाप्ति सप्त सहस्र छन्दों मे हुई है—

सत्त सहस रासो सरस सकल आदि सुभ दिष्ष।
घटि बढ़ि मातर कोइ पढ़ै मोहि दूषन न विसिष्ष॥

आज जो पृथ्वीराज रासो प्रकाशित है, वह विशालकाय है अतः इसकी प्रामाणिकता पर सन्देह होना स्वाभाविक है। विशालकायता के

अतिरिक्त इसमें वर्णित अनेक घटनाएँ, सवत एवं नाम आदि शिलालेखों तथा इतिहासों से नही मिलते। यदि चन्द महाराज पृथ्वीराज का दरबारी कवि रहा होता तो वह ये त्रुटियाँ कभी न करता।

इस ग्रन्थ की अप्रामाणिकता को सिद्ध करने वालों में सर्व प्रथम जोधपुर के मुरारिदान और उदयपुर के श्यामलदास हुए। उन्होंने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जनरल में एक लेख लिखा था जिसमें उन्होने बतलाया कि यह ग्रन्थ महाराज पृथ्वीराज के समय का नही, वरन् उनके दो-तीन सौ वर्ष पश्चात् किसी ने इसे लिखा, और चन्द के नाम से प्रचारित किया।

प्रोफेसर बूलर की दृष्टि इस लेख पर पड़ी और उन्होने खोज प्रारम्भ की। दो वर्ष पश्चात् सन् १८७५ मे जयानककृत पृथ्वीराज विजय नामक एक संस्कृत काव्य उन्हें काश्मीर में मिला। उनके शिष्य जेम्स मोरीसन ने उसका अध्ययन किया। इस ग्रन्थ के पर्यवेक्षण से वे इस परिणाम पर आए कि इसका रचयिता कोई काश्मीरी कवि था, और वह पृथ्वीराज का समकालीन था। उसमें वर्णित घटनाएँ तथा पृथ्वीराज की वशावली स० १०३० और १२२५ के शिलालेखों से मिलती है। जब उन्होने पृथ्वीराज रासो के साथ इसका तुलनात्मक अध्ययन किया तो उन्हें यह ग्रन्थ प्रामाणिक जान पड़ा और रासो अप्रामाणिक क्योकि रासो मे वर्णित घटनाएँ एवं संवत् आदि इससे नहीं मिलते थे। रासो मे चौहानों का वर्णन भी इससे भिन्न था।

जब रॉयल एशियाटिक सोसाइटी पृथ्वीराज रासो को प्रकाशित कराने लगी तो उन्होने सन् १२९३ में उक्त आधार पर पृथ्वीराज विजय की प्रामाणिकता और पृथ्वीराज रासो की अप्रामाणिकता सिद्ध करते हुए रासो के प्रकाशन को स्थगित करने के लिए एक पत्र सोसाइटी को लिखा।

हरविलास शारदा भी पृथ्वीराज विजय को प्रामाणिक ही मानते हैं। वास्तव में यह ग्रन्थ पृथ्वीराज के समय मे ही लिखा गया था क्योकि काश्मीरी कवि जयरथ ने अपने 'विमर्शिनी' नामक ग्रन्थ मे इस ग्रन्थ से उद्धरण दिए है और जयरथ विक्रम की १३ वी शताब्दी के मध्य मे विद्यमान था। अतः निश्चित है कि पृथ्वीराज विजय नामक ग्रन्थ विमर्शिनी से पूर्व ही निर्मित हो चुका था।

मुंशी देवी प्रसाद ने इस ग्रन्थ की अप्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए सन् १९०१ मे 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में एक लेख प्रकाशित किया था। उसमे उन्होंने लिखा था कि रासो मे अधिकांश इतिहास कल्पित और असत्य है। संभवतः पृथ्वीराज के बहुत पीछे किसी दूसरे कवि ने चन्द के नाम से

कल्पना के आधार पर अधिकांश इतिहास लिख डाला। अनेक घटनाएँ ऐसी हैं कि जिनका इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं। 'पृथ्वीराज विजय' ग्रंथ पृथ्वीराज के समय का बना हुआ है। यदि इसके साथ पृथ्वीराज रासो का मिलान किया जाय तो ज्ञात होगा कि रासो ग्रन्थ जाली है। शिलालेखों और मुसलमानी इतिहासों से भी अनेक घटनाएँ एवं संवत् आदि मेल नहीं खाते। कुछ असंगत एवं कल्पित बातें निम्नलिखित हैं—

(अ) रासो में कई ऐसे राजाओं को पृथ्वीराज का समकालीन बतलाया गया है जो उनसे बहुत पहले हुए, जैसे मंडोर महीनाउ राव प्रतिहार जिसकी आठवीं पीढ़ी में कक्कुक प्रतिहार सं० ६१२ में हुआ था।

(आ) पृथ्वीराज के समय में कई ऐसे कल्पित राजाओं के नाम लिखे हैं, जो उस समय विद्यमान ही न थे। उदाहरणतः आबू पर्वत पर उस समय जेत और शलख के नाम लिखे हैं परन्तु वहां के शिलालेखों मे कहीं भी उनका नाम नहीं है। आबू पर तो उस समय धारावर्ष प्रमार नाम का राजा राज्य करता था।

(इ) चन्द ने कई ऐसे राजाओं का बध पृथ्वीराज के हाथों कराया है, जो पृथ्वीराज के पश्चात् भी कई वर्ष तक जीवित रहे। गुजरात का राजा भीमदेव और शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी चन्द के अनुसार पृथ्वीराज के हाथों मारे गये परन्तु मुसलमानी इतिहासों और शिलालेखों के अनुसार संवत् १२७२ तक भीम देव का जीवित रहना निश्चित होता है जबकि पृथ्वीराज की मृत्यु संवत् १२५० के लगभग हुई। इसी प्रकार मुहम्मद गोरी की मृत्यु भी इतिहास के अनुसार सं० १२६० में गक्कड़ों के हाथ से हुई।

(ई) रासो में चित्तौड़ के रावल समरसी का विवाह पृथ्वीराज की बहिन पृथा से लिखा है परन्तु उनके शिलालेख सं० १३३५ और १३४२ के मिलते हैं।

इस ग्रन्थ के अप्रामाणिक मानने वालों मे महामहोपाध्याय गौरी शंकर हीराचन्द ओझा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये तो इस ग्रन्थ को निपट अनैतिहासिक एव जाली कहते है। उनके अनुसार इसमे चौहानो, प्रतिहारों और सोलंकियों की कथा प्रायः कल्पित है। चौहानों की वंशावली भी अशुद्ध है। यहां तक कि पृथ्वीराज की माता, बहिन, भाई और रानियों के नाम भी कल्पित हैं। अनेक घटनाएं बिलकुल असत्य हैं। अनेक घटनाएँ तो १६ वीं शताब्दी तक की लिखी हुई हैं। इनके अनुसार यह ग्रन्थ सं० १६०० के आस पास का बना जान पड़ता है क्योंकि—

(क) सं० १४६० में जैन कवि नयचन्द सूरि कृत 'हम्मीर महाकाव्य' में चौहानों का विस्तृत वर्णन है। परन्तु रासो की भांति उसमें चौहानों को अग्निवंशी नहीं लिखा और उसकी वंशावली को आधार नही माना है। इससे ज्ञात होता है कि 'रासो' उस समय प्रसिद्धि में न आया था।

(ख) चन्द ने लिखा है कि रावल समरसी का पुत्र कुम्भा बीदर के बादशाह के पास गया था। इतिहास-प्रसिद्ध है कि पृथ्वीराज के समय मे तो मुसलमान दक्षिण में गए भी न थे। बीदर का राज्य तो सन् १४३० (वि० सं० १४८७) में अहमदशाहवली ने स्थापित किया था। इससे निश्चित होता है कि रासो सं०१४८७ के पश्चात् बना होगा।

(ग) रासो में लिखा है कि सोमेश्वर का मेवात के मुगल शासक के साथ युद्ध हुआ, जिसमें शासक बन्दी हुआ और उसका पुत्र वाजिदखाँ मारा गया। इतिहास के अनुसार भारतवर्ष में मुगल राज्य की स्थापना बाबर ने सन् १५२६ (वि० सं० १५८३) मे की। इससे इस ग्रन्थ का मुगल शासन की स्थापना के पश्चात् निर्मित होना सिद्ध होता है।

चन्द ने पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह राव समरसी से लिखा है परन्तु राव समरसी के जेष्ठ पुत्र कुम्भा ने सं० १५१७ में कुम्भलगढ़ के दुर्ग की प्रतिष्ठा करते हुए कुम्भ स्वामी के मन्दिर मे पाँच शिलाओ पर जो काव्य खुदवाया था, और जिसमे मेवाड़ के उस समय तक के राजाओ का वृत्तान्त दिया गया है, उसमें राव समरसी के साथ पृथा के विवाह का कोई उल्लेख नहीं है। इस विवाह का सर्व प्रथम उल्लेख सं० १७३२ मे राजसिंह द्वारा राजसमुद्र तालाब के नौचौकी बाँध पर खुदवाये हुए शिलालेख मे मिलता है। अतः ज्ञात होता है कि इससे पूर्व इस ग्रन्थ का निर्माण हो गया था।

इस प्रकार ओझा जी के अनुसार यह ग्रन्थ सं० १६०० के आस पास का ही दीख पड़ता है। उनका कहना है कि भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ प्राचीन नहीं है। कहीं कहीं भाषा मे जो प्राचीनता दीख पड़ती है, वह तो डिंगल की विशेषता है। बीसवीं सदी में लिखे डिंगल के ग्रन्थ 'वंशभास्कर' मे भी भाषा प्राचीन सी जान पड़ती है। निस्सन्देह किसी भाट ने इसे लिख कर चन्द के नाम से प्रख्यात किया। इनके अनुसार कवि चन्द भी कल्पित ही है। पृथ्वीराज विजय नामक काव्य में जो 'चन्द्रराज' कवि का नाम आया है, ओझा जी उसे चन्द नही मानते।

उपरिलिखित व्यक्तियों के अतिरिक्त रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वान् भी इस ग्रन्थ को अप्रामाणिक मानते है। डॉ० ग्रिपर्सन ने इसे १७ वीं शताब्दी में

संग्रहीत हुआ लिखा है। कुछ विद्वान् इसे प्रामाणिक भी मानते हैं और उसकी प्रामाणिकता में अनेक प्रमाण देते हैं।

प्रामाणिक मानने वालों में सर्वप्रथम पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या हैं। इन्होंने इतिहास और पृथ्वीराज रासो के अधिकांश संवतों में ९० वर्ष का अन्तर देखा और इस रासो के निम्नलिखित रूपकों के आधार पर अनन्द संवत् की कल्पना की—

> एकादस सै पंचदह विक्रम जिमि ध्रमसुत।
> त्रतिय साक पृथ्वीराज को लिख्यो विप्र गुनगुत॥
> एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनन्द।
> तिहि रिपु जयपुर हरन को भय प्रथिराज नरिंद॥

इन दोनों की प्रथम पंक्तियों से यह अर्थ निकलता है कि जिस प्रकार युधिष्ठर के ११०० वर्ष पश्चात् विक्रम संवत् प्रारम्भ हुआ उसी प्रकार विक्रम के १००० वर्ष पश्चात् अनन्द संवत् प्रारम्भ हुआ। अनन्द संवत् पृथ्वीराज का संवत् था। इसमें और विक्रम संवत् में ९० वर्ष का अन्तर है। ९० वर्ष की कल्पना पंड्या जी ने अनन्द शब्द के आधार पर की। उन्होंने 'अ' से शून्य और 'नन्द' से नौ अर्थ ग्रहण कर अंक-विपर्यय द्वारा ९० अर्थ निकाला। उनका कहना है कि चन्द के दिए हुए अधिकांश संवतों में यदि ९० जोड़ दिए जायँ तो वे इतिहास और शिलालेखों से मिल जाते हैं।

डाक्टर श्यामसुन्दर दास और मिश्रबन्धु आदि विद्वानों ने इस कल्पना को माना। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए सन् १९०१ ई० में 'हिन्दी का आदि कवि' नाम का एक लेख 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में दिया था। इसमें उन्होंने उन नौ पट्टे-परवानों को अनुवाद सहित प्रकाशित कराया था, जो उन्हें पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या से प्राप्त हुए थे। इन पट्टे-परवानों का समय सं० ११४५ से ११५७ के बीच में है। रासो में वर्णित अनेक घटनाएँ इनमें वर्णित घटनाओं से मिलती हैं। कई परवानों पर पृथ्वीराज की मोहर है, जिससे प्रतीत होता है कि पृथ्वीराज संवत् ११२२ में सिंहासनारूढ़ हुए थे। यह संवत् पृथ्वीराज संवत् है और चन्द के दिए हुए संवत् से मिलता है। इन्होंने पंड्या जी द्वारा कल्पित अनन्द संवत् को माना और विक्रम संवत् के ९० वर्ष पश्चात् अनन्द संवत् के प्रारम्भ किए जाने का समाधान इस प्रतिक्रिया के रूप में किया कि कन्नौज की गद्दी पर बैठने वाले राठौर वंशीय राजाओं ने जयचन्द तक ९० वर्ष राज्य किया और जिस प्रकार चन्द्रगुप्त के लिए नन्द-शासन अप्रिय था उसी प्रकार पृथ्वीराज के लिए जयचन्द और उसके पूर्वजों का राज्य अप्रिय था अतः उनके शासन-काल को छोड़कर चन्द ने अनन्द संवत् का व्यवहार किया।

मिश्रबन्धुओं ने इस ग्रन्थ को प्रामाणिक मानते हुए लिखा कि अधिकांश संवतों का समाधान अनन्द संवत् की मान्यता से हो जाता है। इतिहास सम्बन्धी भ्रान्तियों के सम्बन्ध में उनका कहना है कि चन्द एक भाट था अतः उसने बहुत सी घटनाएं अतिरंजित रूप में लिखीं और जहाँ कहीं पृथ्वीराज के पश्चात् की घटनाएं दीख पड़ती हैं वे प्रक्षिप्त हैं। अरबी-फारसी के शब्द-बाहुल्य का कारण उन्होंने उस प्रभाव को माना, जिसे मुसलमानों ने दो सौ वर्ष पूर्व से पृथ्वीराज के समय तक जनता पर अंकित कर दिया था।

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय और मुनि जिनविजय आदि भी इसे प्रामाणिक मानते हैं। शास्त्री जी को नानूराम भाट से उसके पूर्वजों की एक वंशपरम्परा मिली थी, जिसमें चन्द्र से नानूराम तक की सत्ताइस पीढ़ियों के नाम दिए हुए हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि सूरदास तक इस वंशावली के नाम सूरदास द्वारा साहित्यलहरी में दी गई अपनी वंशावली से मिलते हैं अतः चन्द ऐतिहासिक व्यक्ति है।

उपर्युक्त समीक्षा से हम किस परिणाम पर आते हैं यह कहना सरल नहीं परन्तु हमारी सम्मति में चन्द एक ऐतिहासिक व्यक्ति है उसने पृथ्वीराज रासो नाम का महाकाव्य लिखा था। सूरदास की साहित्य लहरी से चन्द वास्तविक रूप से पृथ्वीराज का समकालीन होना प्रमाणित है। चन्द-विरचित पृथ्वीराज रासो इतना विशालकाय नहीं था। इसके अनेक संवतों में जो इतिहास और शिलालेखों से अन्तर दीख पड़ता है उसका कारण यही है कि इसमें बहुत सी घटनाएँ पीछे से मिला दी गई हैं अतः इसका पर्याप्त अंश प्रक्षिप्त है। साथ ही यह भी कहना कठिन है कि इतना अंश चंद-निर्मित है।

महाकाव्य की दृष्टि से यह एक सुन्दर काव्य है जो ६९ समयों में समाप्त हुआ है। इसमें क्षत्रियकुलोत्पन्न महाराज पृथ्वीराज धीरोदात्त नायक हैं जिनमें धीरता, वीरता आदि सभी उदात्त गुण विद्यमान हैं। यह काव्य वीररस प्रधान है। श्रृंगार और रौद्र आदि रस अंग बन कर आए हैं। इसमें युद्ध-वर्णन के अतिरिक्त स्थान स्थान पर प्रकृति का सुन्दर चित्रण हुआ है। वीर रस का जहाँ भी चित्रण है, उसमें सजीवता आ गई है, यथा—

गही तेग चहुँआँन हिंदवान रानं।
गजं जूथ परि कोप केहरि समानं॥
करे रुंड मुंडं करी कुंभ फारे।
वरं सूर सामन्त हूँ कि गर्जे मारे॥

गिरद्धं उडी भांन अंधार रैनं ।
गई सुधि सूझै नही मंज्झि नैनं ॥
सिर नाय कम्मान प्रथिराजराजं ।
पकरिये साहि जिम कुलिंग बाजं ॥

इस पद्य में कितना ओज भरा हुआ है । भाषा में ओज के साथ साथ भाव भी उत्साहवर्धक है । इसके अतिरिक्त शृंगार का भी संयोग और वियोग रूप में बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है । शृंगार-चित्रण पृथ्वीराज की रानियों के वर्णन में ही हुआ है । वीर रस में जिस प्रकार ओज गुण का सुन्दर रूप लक्षित होता है उसी प्रकार शृंगार आदि में माधुर्य और प्रसाद गुण भी हृदयहारी रूप में आये हैं । निम्नलिखित पद्य में पद्मावती के रूप का कितना सरस और मधुर वर्णन है—

मनहुं कला ससिभान कला सोलह सो बन्निय ।
बाल वैस ससि ता समीप, अम्मित रस पिन्निय ॥
बिगस कमल-स्रिग भ्रमर, बेनु षंजन मृग लुट्टिय ।
हीर कीर अरु बिंब, मोति नषसिष अहिघुट्टिय ॥
छत्रपतिं गयंद हरि हंस गति, बिह बनाय संचै सचिय ।
पदमिनिय रूप पद्मावतिय, मनहु काम कामिनि रचिय ॥

इस रासो में दूहा छंद का प्रयोग अधिक हुआ है । इसके अतिरिक्त गाथा, आर्या, तोमर, त्रोटक, छप्पय, कुंडलिया, भुजंगप्रयात, पद्धरि, कवित्त आदि भी प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए है ।

रासो में अलंकारों का प्रयोग भी हुआ है परन्तु वे भार बनकर नहीं आये हैं । अलंकारों की सुन्दर योजना निसर्गतः ही हुई है । प्रधानतः अनुप्रास, उपमा, उत्पेक्षा और रूपक अलंकारों का ही चमत्कार दीख पड़ता है ।

यह सब होते हुए भी इसमें कई बातें ऐसी हैं जो अखरती हैं । महाकाव्य होते हुए भी इसमें जीवन का सुन्दर रूप नहीं दीख पड़ता और न मानव जीवन के किसी भी अंश का सुन्दर चित्रण जीवन के वाह्य और अन्तःसौन्दर्य में सामंजस्य स्थापित करता दृष्टिगोचर होता है । घटनाओं में विषमता और विशृंखलता भी इसके सुरूप को मर्दित करती सी जान पड़ती हैं । कहीं कही तो शृंगार-वर्णन में भी ओजपूर्ण भाषा का प्रयोग हुआ है । एक शब्द के लिए अनेक भाषाओं में प्रयुक्त उसके अनेक रूप देखने में आते है, यथा—

स्नान—अस्नान, सनान, नहान ।
एक—एक, इक, इकह, इकि, इक्क
कर्म—कर्म, कम्म, काम, क्रम्म
मनुष्य—मनष, मानष, मनुष, मानुष्य

अनेक भाषाओं का प्रयोग भी इसके सौन्दर्य को तनिक धुँधला बना रहा है। इसमें शुद्ध साहित्यिक राजस्थानी एवं डिंगल दोनों भाषाओं का मिश्रण है। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने इसे पिंगल का ग्रन्थ माना है परन्तु इसका समर्थन किसी विद्वान् ने नहीं किया। ओझा जी इसकी भाषा को अव्यवस्थित बतलाते हैं। इसकी भाषा के सम्बन्ध में चन्द ने स्वयं लिखा है—

षट्भाषा पुराणं च कुराणं च कथितं मया।

अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, देशभाषा, राजस्थानी, डिंगल और अरबी-फारसी का प्रयोग कर मैंने इस ग्रन्थ को लिखा। उदाहरणार्थ कुछ शब्द नीचे दिये जाते हैं—

संस्कृत—बडवा, उदधि, नृपति, निरंजन, कनक, कलंक, अम्बुज, द्रव्य, पीयूष, ज्वाल, भामिनि, इन्द्र, गयंद, विभ्रम, अभंग आदि।

प्राकृत—सायर (सागर), कन्ह (कृष्ण), सद्द (शब्द), जाग या जग्ग (यज्ञ), एण (एन) आदि।

अपभ्रंश—अच्छरी (अप्सरा), बह्मन (ब्राह्मण), मूज्जाद (मर्यादा), कम्म (कर्म), आया (आज्ञा) आदि।

देशज—छोगा, गरट, बालर, अलगार, बंब- बिसाहन, बागुर, भगर, छेह, ढोह आदि।

पंजाबी—कूकंदा, वित्ता, आवंदा, रहन्ना, गल्हियां, रहंदी आदि।

अरबी—अमीर, हक्क (हक), हसम (हश्म), ववरि (खबर), अकलि (अक़्ल), फौज, महल, मुजरा आदि।

फारसी—हजार, सहर (शहर), पेस (पेश), असवार (सवार), सोर (शोर), कबूतर, तंदूर (तुंदुर), आदि।

तुर्की—हरावल आदि।

इस प्रकार हम इस रासो में अनेक भाषाओं का मिश्रण देखते हैं। वास्तव में घटनाओं की विषमता और भाषा की विश्रृंखलता में उन लोगों का बड़ा हाथ रहा होगा, जिन्होंने बहुत कुछ अपनी ओर से इसमें मिला दिया है।

विद्यापति

मैथिलकोकिल विद्यापति का जन्म दरभंगा जिले के विसपी ग्राम मे हुआ था। इस गांव का पहला नाम गढ़विसपी था। विद्यापति के पूर्वज तत्कालीन तिरहुत नरेश महाराज शिवसिंह के पूर्वजों के दरबार में आश्रय पा चुके थे अतः विद्यापति का बाल्यकाल से ही महाराज शिवसिंह से घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। बड़े होकर विद्यापति ने राजकवि के रूप में उनका आश्रय लिया। महाराज ने प्रसन्न होकर इन्हे विसपी गाँव उपहार मे दे दिया, जो चार पीढ़ियों तक विद्यापति के वंशजों के अधिकार मे रहा किन्तु पुनः अंग्रेजों ने उसे छीन लिया। विद्यापति को विसपी गाँव का दिया जाना एक ताम्रपत्र से भी सिद्ध होता है। इस ताम्रपत्र पर समय लक्ष्मणाब्द २९३ श्रावण सुदि ७ गुरुवार पड़ा हुआ हैं।

देवसिंह जू पुहुमि छड्डिय अद्धासन सुरराय सरू।

जन्मकाल—ताम्रपत्र के अनुसार राजा शिवसिंह ने विद्यापति को विसपी गाँव २९३ लक्ष्मणाब्द में दिया था। २९३ लक्ष्मणाब्द से तात्पर्य शक सम्वत् १३२४ है। राजा शिवसिंह के पिता देवसिंह का निधन २९३ लक्ष्मणाब्द में हुआ था। विद्यापति ने अपने एक पद में स्पष्ट लिखा है—

अनल रन्ध्र कर लक्खन नरवइ सक समुद्द कर अगिनि ससी।
चैत कारि छठि जेठा मिलिओ बार बेहप्पय जाइ लसी॥

अनल ३, रन्ध ९ और कर २। संख्या में अंकविपर्यय का नियम होने के कारण २९३ लक्ष्मणाब्द हुआ। इसी प्रकार समुद्र ४, कर २, अगिनि ३ और ससी १ से अंकविपर्यय द्वारा १३२४ शकाब्द हुआ।

देवसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसी वर्ष शिवसिंह सिंहासनारूढ़ हुए थे और गद्दी पर बैठन के कुछ मास पश्चात् ही उन्होने विसपी गाँव विद्यापति को दिया था। शिवसिंह की अवस्था उस समय ५० वर्ष की थी। विद्यापति शिवसिंह से दो वर्ष बड़े थे अतः विद्यापति की अवस्था उस समय ५२ वर्ष की थी। इस प्रकार विद्यापति का जन्म सम्बत् २९३ मे से ५२ वर्ष निकालने पर २४१ लक्ष्मणाब्द (सं० १४०७) निश्चित होता है।

इनके जन्मस्थान को लेकर कुछ दिनों तक बडा वाद विवाद चला। कुछ बंगाली विद्वानों ने इन्हें बंगाली सिद्ध करने का प्रयत्न किया। कारण यह था कि परम्परा के अनुसार इन्होंने भी अपनी पदावली का विषय राधाकृष्ण की मधुर एवं सरस लीलाओं को ही ग्रहण किया। इनकी कोमल कान्त पदावली ने इनके श्रृंगारी गेय पदों को इतना सरस बना दिया था कि क्या रस की दृष्टि से और क्या संगीत की दृष्टि से उनमें अनुपम गयोगिता, परम सम्मोहक शक्ति और विलक्षण वशीकरणक्षमता आ गई थी। इस मधुमय पदावली ने मिथिला प्रदेश को पार कर बंगाल को भी मन्त्रमुग्ध सा कर दिया। प्रतिगृह उनकी सरस वाणी से गूंज उठा। परम कृष्णभक्त चैतन्य महाप्रभु ने भी उनके गीतों को सुना और वे उन पर इतने मुग्ध हुए कि वे स्वयं भी इनको गाने लगे। कभी कभी तो वे गाते गाते तन्मय हो जाते थे। उनके शिष्यों ने भी विद्यापति के पदो को गाना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार प्रायः समस्त बंगाल मैथिलकोकिल की कलित काकली से समाकुल हो गया। इसका ऐसा व्याप्त प्रभाव हुआ कि कृष्णदास, नरोत्तमदास, ज्ञानदास, नरहरिदास आदि बंगीय कवियों ने भी इनके अनुकरण पर ही पद-रचना प्रारम्भ की। यह प्रभाव वही तक समाप्त नही हुआ, बंकिमचन्द्र और रवीन्द्रनाथ की कविता भी उनका अनुकरण करती दीख पड़ती है।

इस प्रकार विद्यापति बंगालियो को अपने से जान पड़ने लगे। शनैः शनैः उनके पदो की मैथिली भाषा पर बंग भाषा का पानी चढ़ गया और लोग भूल गए कि वे मैथिल थे। बगालियो ने उन्हें बंगाली सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण जुटाए। यहाँ तक कि उनका निवास स्थान, राजा शिवसिंह और रानी लखिमादेवी भी बंगाल मे खोज निकाले।

सर्वप्रथम ग्रियर्सन महोदय ने यह सिद्ध किया था कि ये बिहारी थे, बंगाली नहीं। बंगालियों में सर्व प्रथम राजकृष्ण मुखोपाध्याय ने 'बंगदर्शन' नामक पत्र मे इस बात को प्रमाणित किया था। तदनन्तर महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री तथा नगेन्द्रनाथ गुप्त आदि सभी बंगीय विद्वानो ने इसे स्वीकृत किया।

विद्यापति बाल्यकाल में अपने पिता गणपति ठाकुर के साथ राजा गणेश्वरसिंह के दरबार में जाया करते थे। विद्यापति ने स्वयंकीर्तिलता में राजा गणेश्वर का निधनकाल २५२ लक्ष्मणाब्द (वि०सं० १४१८) लिखा है अतः उस समय विद्यापति १०-११ वर्ष के थे। १०-११ वर्ष का व्यक्ति बालक होता ही है इससे उक्त २४१ लक्ष्मणाब्द (वि० सं० १४०७) विद्यापति का जन्मकाल युक्तियुक्त जान पड़ता है।

जीवन-वृत्त—विद्यापति के पिता का नाम गणपति ठाकुर और माता का हासिनी देवी था। गणपति ठाकुर राजा गणेश्वर के सभा-पण्डित, राज-कवि और मंत्री थें। ये जाति के मैथिल ब्राह्मण थे और इनका गोत्र ठाकुर था। विद्यापति ने पं० हरिमिश्र से विद्याध्ययन किया था। विवाहोपरान्त इनके दो सन्तान हुईं, एक पुत्र और एक पुत्री। पुत्र का नाम हरपति और पुत्री का नाम दुलही था तथा चन्द्रकला इनकी पुत्रवधू का नाम था।

ये अपने पिता के साथ बाल्यकाल में राजा गणेश्वर का दरबार तो देख ही चुके थे। गणेश्वर की मृत्यु के पश्चात् कीर्तिसिंह गद्दी पर बैठे। विद्यापति इनके दरबार में भी जाने लगे और बड़े होकर अपनी प्रतिभा द्वारा उनके दरबारी कवि हो गए। बहुत काल तक इनके आश्रय में रहे। इन्होंने कीर्तिसिंह के नाम पर कीर्त्तिलता नाम का ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ युवावस्था में लिखा हुआ जान पड़ता है क्योंकि इसके अन्त मे इन्होंने अपने को 'खेलन कवि' लिखा है। कीर्त्तिलता की भाषा को कवि ने स्वयं 'अवहट्ठ' लिखा है। कीर्त्तिसिंह के पश्चात् देवसिंह गद्दी पर बैठे। ये देवसिंह के भी दरबारी कवि हुए। देवसिंह के शासन काल में ही शिवसिंह राज का कार्य किया करते थे अतः उन्हें राजा की उपाधि राज्यारोहण से पूर्व ही मिल गई थी। इसी काल में विद्यापति और शिवसिंह मैत्री एवं घनिष्ठता में आबद्ध हो गए थे। शिवसिंह के गद्दी पर बैठने पर ये उनके अन्तिम समय तक उनके आश्रय में रहे। उन्होंने अपने अधिकांश पदों में राजा शिवसिंह एवं रानी लखिमादेवी का नाम दिया है।

रचनाएँ—इन्होंने लगभग एक दर्जन पुस्तकें लिखीं। संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होने के कारण पदावली के अतिरिक्त अधिकांश पुस्तकें इन्होंने संस्कृत में लिखी। जहाँ कहीं प्राकृत और अपभ्रंश का मिश्रण है वहाँ भी संस्कृत की प्रगाढ़ मुद्रा अंकित सी दीख पड़ती है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ अधोलिखित हैं—

कीर्त्तिलता—यह राजा कीर्त्तिसिंह के नाम पर लिखी थी तथा कवि ने इसकी भाषा को 'अवहट्ठ' लिखा है।

कीर्तिपताका—यह मैथिली की पुस्तक है, जिसमें प्रेम सम्बन्धी कविताओं का संग्रह है।

भू-परिक्रमा—इसमें नैतिक शिक्षा की कहानियाँ हैं। इसकी रचना राजा देवसिंह की आज्ञा से हुई थी।

पुरुष परीक्षा—इसमें सुन्दर कथाओं द्वारा धार्मिक एवं राजनैतिक विषयों का वर्णन है।

लिखनावली— यह लक्ष्मणाब्द २९९ में रजाबैनौली के शासक पुरादित्य के लिए लिखी गई थी। इसमें पत्र-व्यवहार करने की रीति पर प्रकाश डाला गया है।

शैव सर्वस्व-सार—यह कहानी विश्वासदेवी के समय में लिखी गई थी। इसमें राजा भवसिंह से लेकर रानी विश्वासदेवी तक के राजाओं का यशोगान है तथा शिवपूजा की विधि लिखी हुई है।

दुर्गाभक्तितरंगिणी— यह नरसिंहदेव के कहने से दुर्गाभक्ति पर लिखी गई थी।

इनके अतिरिक्त गंगा वाक्यावलि और दानवाक्यावलि भी इनकी पुस्तकें हैं।

इन्होंने सुललित एवं कोमल कान्तपदावली युक्त मैथिली भाषा में सैंकड़ों पद्म भी लिखे, जो 'पदावली' के नाम से संकलित हैं। इसमें इन्होंने गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव का अनुकरण किया है अतः ये अभिनव जयदेव के नाम से प्रख्यात हुए। ये परम संगीतमर्मज्ञ थे। लोचन कवि ने राजतरंगिणी में लिखा है कि पंडितवर कविशेखर विद्यापति के लिए राजा शिवसिंह ने सुमति के पुत्र जयंत को रख दिया था। विद्यापति पद बनाते थे और जयंत सुर ठीक करता था। यह रचना इतनी सरस और मधुर पदो मे है कि केवल इसी कारण विद्यापति मैथिलकोकिल कहे गए।

उपाधियाँ— विद्यापति की सर्वप्रसिद्ध उपाधि 'अभिनव जयदेव' है। पूर्वोल्लिखित ताम्रपत्र में भी इन्हें नव जयदेव लिखा है—

× × × ग्रामोऽयमस्माभिः सप्रक्रियाभिर्नवजयदेव महाराजपंडितठक्कुर श्रीविद्यापतिभ्यः शासनीकृत्य प्रदत्तोऽ × × ×।

इससे ज्ञात होता है कि यह उपाधि महाराज शिवसिंह ने ही इन्हे दी थी। इन्होंने एक स्थान पर स्वयं अपने को नवजयदेव लिखा है।

सुकवि नवजयदेव भनिओ रे।

अनेक पदों में इन्होंने अपने को 'कविशेखर', 'नवकविशेखर', 'कवि-कंठहार', 'कविरंजन', 'सरसकवि', 'कविरतन', 'कविवर' और 'सुकवि' आदि भी लिखा है यथा क्रमशः—

'कह कविशेखर दुहु चतुराई।'
'नवकविशेखर कि कहव तोय।'
'नागरि-चातुरि भन कविकंठहार।'
'कह कविरंजन सहज मधुराई।'
'सरसकवि सुरस भन चारुतर चतुरपन।'
'भने कविरतन विधाता जामे।'

'विद्यापति कविवर एहो गाओल ।'
'भन विद्यापति सुकवि पुनित मति ।'

इनमें से कविवर और सुकवि श्रेष्ठ कवि होने के नाते सगर्व लिखी जान पड़ती है और उपाधि प्रतीत होती है ।

इनकी कुछ कविताएँ दशावधान, चम्पति और विद्यापतिचम्पई नाम से भी मिलती हैं ।

मृत्युकाल—राजा शिवसिंह की मृत्यु के ३२ वर्ष पश्चात् विद्यापति ने एक दिन उन्हें स्वप्न में देखा था—

सपन देखल हम सिवसिंघ भूप ।
बतिस बरस पर सामर रूप ॥

शिवसिंह की मृत्यु २९६ लक्ष्मणाब्द में हुई थी अतः ३२८ लक्ष्मणाब्द (वि० सं० १४९५) मे इन्होंने वह स्वप्न देखा था । यदि उससे २-३ वर्ष पश्चात् उनकी मृत्यु मानी जाय तो उनका मृत्युकाल वि० सं० १४९७ निश्चित होता है । तिथि कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी थी, जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है—

विद्यापतिक आयु अवसान ।
कातिक धवल त्रयोदसि जान ॥

भक्त या शृंगारी कवि—इनके अधिकांश पद राधाकृष्ण सम्बन्धी हैं अतः अनेक विद्वानों ने इन्हें कृष्ण भक्त माना है । बाबू ब्रजनन्दन सहाय ने इन्हें 'वैष्णव-कवि- चूड़ामणि' लिखा है । परन्तु वास्तव में ये भक्त कवि नहीं थे । इन्होंने भक्ति का प्रदर्शन प्रधानतः शिव के प्रति किया है । इनके पिता स्वयं शैव थे और उन्होंने शिव की कृपा से ही विद्यापति को पुत्र के रूप में प्राप्त किया था । बड़े होकर विद्यापति भी शिवभक्त ही हुए । इन्होंने स्वयं लिखा है--

आन चान गन हरि कमलासन,
सब परिहरि, हम देवा ।
भक्त-वछल प्रभु बान महेसर,
जानि कएलि तुअ सेवा ॥

अर्थात् अन्य व्यक्तियों द्वारा पूजित चन्द्र और विष्णु आदि की उपासना छोड़कर मैंने हे वाणमहेश्वर ! तुम्हें भक्तवत्सल जानकर तुम्हारी सेवा की है ।

आज भी विसवी गाँव के पास भेड़वा ग्राम में वाणेश्वर महादेव स्थापित हैं । विद्यापति इन्हीं की उपासना किया करते थे ।

इन्होंने शिवप्रशंसा में अनेक नचारियाँ भी लिखीं । 'गंगा वाक्यावली' में गंगा और 'दुर्गा भक्तितरंगिणी' में दुर्गा की स्तुति से भी परोक्षतः शिव-स्तुति ही की गई है । 'शैव सर्वस्वसार' का विषय तो शिव-पूजा ही है ।

जनश्रुति के अनुसार एक बार एक 'उगना' नामक व्यक्ति को इन्होंने अनुचर रख लिया था। वह स्वयं महादेव थे जो इनकी सेवा एवं उपासना से सन्तुष्ट हो इनकी सेवा के लिए आए थे। उगना इनके साथ रहने लगा। एक दिन ये कहीं जा रहे थे, मार्ग में इन्हें प्यास लगी। इन्होंने उगना से पानी लाने को कहा। वह थोड़ी देर में पानी का लोटा लेकर आया। विद्यापति ने जब पानी को देखा तो विदित हुआ कि वह तो गंगाजल था। उन्होंने पूछा कि यह पानी कहाँ से लाये हो। उत्तर मिला कि पास के कुएं से। परन्तु जब इन्हें सन्तुष्टि न हुई और सच बतलाने के लिए कहा तो उगना ने महादेव के रूप में अपना वास्तविक रूप दिखाया। वह पानी उनकी जटाओं में व्याप्त गंगा का था। विद्यापति बड़े लज्जित हुए। शिव ने कहा कि मैं तुम पर बड़ा प्रसन्न हूं, मैं तुम्हारे साथ ही रहूंगा परन्तु तुमने कभी किसी से यह बात प्रकट [illegible] तो अन्तर्द्धान हो जाऊँगा। विद्यापति ने इसे माना और शिवजी पुनः उगना के रूप मे विद्यापति के साथ रहने लगे।

एक दिन उनकी स्त्री ने उगना को कुछ लाने को आज्ञा दी। जब उगना को अधिक विलम्ब हुआ तो स्त्री बड़ी क्रुद्ध हुई और उसके लौटने पर वह उस पर लकड़ी लेकर दौड़ी। विद्यापति ने जब यह काण्ड देखा तो भावावेश में वे सहसा चिल्ला पड़े—

'अरे! यह क्या कर रही हो, साक्षात् शिव पर प्रहार!'

उसी क्षण शिव अन्तर्द्धान हो गये और विद्यापति पागल की भाँति गाने लगे—

उगना रे मोर कतए गेला।
कतए गेला सिव कीदहु भेला॥ इत्यादि।

इस प्रकार विद्यापति शिवभक्त तो थे ही परन्तु विष्णु-विरोधी भी नहीं थे और शक्ति के स्तवक होने से शाक्त भी थे।

पदावली में राधाकृष्ण की लीला का चित्रण होते हुए भी हम उन्हें भक्त कवि नहीं कह सकते क्योंकि उन्होने स्तुति आदि के द्वारा भक्ति का प्रदर्शन तो केवल शिव के प्रति ही किया है। राधाकृष्ण के प्रति हम उन्हें देवरति से युक्त कहीं नहीं देखते। उन्होंने पदावली में कृष्ण और राधा को नायक-नायिका के रूप में ग्रहण किया है। उन्होंने इस विषय में जयदेव के गीत-गोविन्द को अपना आदर्श माना है। वहाँ भी कृष्ण और राधा नायक-नायिका हैं। अतः पदावली में श्रृंगार का चित्रण है, भक्ति का नहीं।

पदावली एक खण्डकाव्य है जिसमें प्रथम राधा की वयःसन्धि का वर्णन है। राधा शैशव को छोड़ रही है और यौवन को प्राप्त कर रही है। इस

अवस्था में अंगों में परिवर्तित स्थिति और बाला में उद्भूत चाञ्चल्य का चित्रण है। पुनः राधा तरुणावस्था को प्राप्त होती है और यौवन का सहचर मदन उसे प्रमदा का रूप देने अपने प्रखर शरों का लक्ष्य बनाता है। दौत्य कर्म प्रारम्भ होता है। दूतियाँ राधाकृष्ण से पारस्परिक प्रशंसा करती हैं जिससे उनमें पूर्वानुराग उद्बुद्ध हो जाता है। एक दिन मार्ग में जाते राधाकृष्ण का मिलन होता है। इससे उनमें विह्वलता फूट पड़ती है। दूतियाँ राधा को अभिसार के लिए उकसाती हैं और कृष्ण को प्रथम मिलन के लिए प्रबोध देती हैं। पुनः अभिसार होता है जिसमें वासना का नग्न चित्र चित्रित हुआ है। अब राधा का मौग्ध्य दूर हो जाता है। एक दिन कृष्ण को कुछ विलक्षण रूप में देखती है और खण्डिता का रूप धारण कर मान कर बैठती है। दूतियों के समझाने पर भी नहीं मानती है। पुनः कृष्ण अनुनय-विनय करते हैं परन्तु वह मान नहीं छोड़ती। कृष्ण मथुरा चले जाते हैं जिससे मान भग्न हो जाता है और राधा विरह से दग्ध होने लगती है। एक दिन कृष्ण पुनः आते हैं और उनका मिलन होता है।

इस कथानक से प्रतीत होता है कि यह पदावली शृंगारिक पदों का ही एक सरस पुञ्ज है। इसमें शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इतना विशद चित्रण हुआ है तथा अनेक स्थलों पर अनेक संचारियों का ऐसा उत्तेजक रूप दीख पड़ता है कि पाठक स्वयं शृंगार की सरस रसधार में गोते खाने लगता है, भक्तिभाव एवं निर्वेद तो पास भी नहीं फटकते। ऐसी स्थिति में भक्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः यह निश्चित है कि विद्यापति भक्त नहीं, शृंगारी कवि थे।

पदावली—विद्यापति को अक्षय कीर्ति दिलाने वाली इनकी पदावली है। इस पदावली की कोमलकान्त पदावली ने ही इन्हें मैथिलकोकिल बनने का अधिकारी बनाया। इसकी भाषा मैथिल है, जिस पर बँगला का प्रभाव है। इस प्रभाव का कारण यह था कि ये दरभंगा में उत्पन्न हुए थे और दरभंगा से तात्पर्य 'द्वारबंग' या बंगाल का द्वार है। इसके अतिरिक्त बहुत समय तक इनके पदों का बंगाल में गाया जाना भी है, जिससे इनमें बंगीय छाप अंकित हो गई।

विद्यापति से पूर्व श्रीमद्भागवत एवं ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन हो चुका था परन्तु उनमें उनके सम्मोहक सरस रूप के अतिरिक्त अव्यक्त रूप का भी प्रतिभास हुआ था। यद्यपि जनता दार्शनिकता से परे कृष्ण का मधुर रूप ही देखना चाहती थी, तथापि मध्ययुग के प्रायः

सभी सन्तों ने राधाकृष्ण की लीलाओं का मधुर एवं सरस वर्णन करते हुए भी शृंगार को इतना महत्व नही दिया नथ। वे उनके [illegible] को भुला कर उनको नायक-नायिका का रूप न दे सके। इसका कारण यह था कि उन्होने श्रीमद्भागवत को अपना आदर्श माना था।

सर्वप्रथम जयदेव ने 'गीतगोविन्द' में राधाकृष्ण की विलासमय लीलाओ का चित्रण किया। अनेक आचार्यो ने उनका अनुकरण किया। विद्यापति ने भी उसे अपना आदर्श माना।

यद्यपि जयदेव ने 'गीतगोविन्द की कथावस्तु श्रीमद्भागवत् के २९ से लेकर ३३ वें स्कंध तक की कथा में से ली तथापि जयदेव ने मौलिकता का संरक्षण किया और गीतगोविन्द को एक खण्डकाव्य का रूप दे दिया। भागवत में रासलीला का वर्णन एक ही रात का है, जो योगमाया से बढ़ा दी गई है. परन्तु गीतगोविन्द में दो दिन दो रात लगे है। भागवत मे कृष्ण शिशु होते हुए भी योगमाया से तरुण हो गए है परन्तु गीतगोविन्द मे वे तरुण ही है। इस प्रकार और भी अनेक मौलिक भेद हैं।

जिस प्रकार जयवेव ने मौलिकता को नष्ट न होने दिया उसी प्रकार विद्यापति भी जयदेव का अनुकरण करते हुए इस बात से सदैव सजग रहे कि कहीं उनकी मौलिकता का तो ह्रास नही हो रहा है। विद्यापति ने जयदेव के अनुकरण पर ही पदावली को खण्ड काव्य का रूप दिया। परन्तु मौलिकता को अक्षुण्ण रखने के लिए सर्वप्रथम वय:सन्धि से उन्होंने कथानक को प्रारम्भ किया, जिससे सद्य:स्नाता तथा पुन: यौवनसुलभ अनुरक्ति का उद्भाव आदि नूतन विषय स्वयं ही उन्हे' मिल गए। वास्तव मे देखा जाय तो धौत-कर्म के पश्चात् अभिसार, कौतुक, प्रबोधन, मिलन, मान, मानभंग, विरह, स्वप्न, मिलन आदि सभी विषय मौलिक हैं। जयदेव ने दूती का प्रयोग तो कराया है परन्तु इतना महत्व नहीं दिया। विद्यापति का तो दूती के बिना कोई कार्य ही नहीं होता। परस्पर प्रशंसा, अभिसार, प्रबोधन, मिलन, विरह आदि सभी कार्य दूतियों द्वारा ही हुए हैं। इस विषयगत मौलिकता के अतिरिक्त जयदेव ने कलापक्ष को भी ध्यान में रखा जब कि विद्यापति ने भावपक्ष को।

विद्यापति ने भागवत को पढ़ा अवश्य होगा परन्तु उन्होंने इससे उन्हीं प्रसंगों को लिया है जो शृंगार के सहकारी थे। भागवत में राधा का नाम तक नही। पदावली में दूतियों की प्रधानता है जबकि भागवत में उनको कोई महत्व नही दिया गया। वहाँ उद्धव संदेश लेकर जाते है और यहाँ दूतियाँ।

वहाँ पुनर्मिलन महाभारत के ही पश्चात् हुआ है जब कि पदावली में दूतियाँ थोड़े दिन पश्चात् ही उन्हें मथुरा से लाकर पुनर्मिलन करा देती हैं।

पदावली में राधाकृष्ण की लीला के अतिरिक्त शिव, शक्ति एवं गंगा की भी स्तुति है। तथा कहीं कहीं रहस्यात्मक पद भी हैं, यथा—

कर धरु करु मोहे पारे।
देव मै अपूरब हारे, कन्हैया॥
सखि सब तेजि चलि गेली।
न जानू कौन पथ मेली, कन्हैया॥
हम न जाएब तुअ पासे।
जाएब औघट घाटे, कन्हैया॥
विद्यापति एहो भाने।
गूजरि भज भगवाने, कन्हैया॥

शिव, शक्ति एवं गंगा की स्तुति और रहस्यात्मक पद होते हुए भी इसमें शृंगार की ही प्रधानता है। वयःसन्धि, सद्यःस्नाता, मिलन और विरह के पद इन्होंने अनुभूति और मनोविज्ञान के आधार पर लिखे तथा दूती-कर्म, मानवर्णन आदि में कल्पना का आश्रय लिया है।

इसमें मुक्तक काव्य का रूप दीख पड़ता है परन्तु वास्तव में यह एक खण्डकाव्य है, जैसा कि पहले सूक्ष्म कथा द्वारा व्यक्त किया गया है। कृष्ण धीरललित दक्षिण नायक है। राधा की खण्डितावस्था में इनकी वामता का भी चित्रण है तथा मानमोचन के समय विदग्धता भी प्रदर्शित की गई है। राधा स्वकीया नायिका है, जो मुग्धा, अभिसारिका, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा एवं प्रोपितपतिका के रूप मे चित्रित हुई है।

पदावली में काव्य-सौष्ठव—

विद्यापति की कोमलकान्त पदावली प्रसिद्ध ही है। उनका एक एक पद मधुप्रवाही नद है जो प्रबल वेग से रस का सञ्चार करता है। मञ्जुल, मृदुल, पेशल एवं स्निग्ध शब्दों की योजना, संगीत की तरल ध्वनि, नवीन से नवीन उत्प्रेक्षाओं की उद्भावना जैसी इस पदावली में मिलती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। प्रत्येक प्रसंग में नवीनता है, सजीवता है और है पूर्ण प्रबल वेगवती भावव्यञ्जना। ऐसा प्रतीत होता है कि पदों के लिखने के समय स्वयं कामदेव विद्यापति के अन्दर बैठे हुए भाव उद्गारित कर रहे थे।

सर्वप्रथम वयःसन्धि का कितना सहज चित्रण हुआ है। जब शैशव और यौवन का मेल हुआ तो दोनों नेत्रों ने कानों का मार्ग पकड़ लिया—

सैसव जौवन दुहु मिलि गेल।
स्रवनक पथ दुहु लोचन लेल॥

इससे व्यञ्जित होता है कि वह कटाक्ष करने लगी है । अब उसके बचनों में चतुरता आ गई है, मन्द मन्द हँसने भी लगी है, कभी केशपाश को कसती है तो कभी फैला लेती है, कभी अंग ढक लेती है तो कभी उघाड़ लेती है—

बचन क चातुरि लहु लहु हास ।
* *
कबहुं बाधय कच कबहु बिथारि ।
कबहुं झापय अंग कबहुं उघारि ॥

उसके चरणों की चपल गति को लोचनों ने ले लिया है और लोचनों का धैर्य पदों में चला गया है—

चरन चपल गति लोचन पाव ।
लोचन क धैरज पदतल जाव ॥

रस-कथा को सुनते हुए उसका चित्त उसी प्रकार तल्लीन हो जाता है जिस प्रकार संगीत सुनते हुए हरिणी का—

सुनइत रस-कथा थापए चीत ।
जइसे कुरंगिनी सुनए संगीत ॥

अज्ञातयौवना रमणी में ये भाव एवं चेष्टाएं स्वभावज हुआ करती हैं । पद का प्रत्येक अंश मानो रमणी के तत्तद अंगों की प्रतिमूर्ति है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह अंग निर्जीव पद्यांश के रूप में भी सचेष्ट हो गया है ।

वय:सन्धि से उभार को प्राप्त मांसल गौरवर्णा नायिका के रूप-सौन्दर्य का वर्णन बड़ा ही चमत्कार पूर्ण है—

माधव की कहब सुन्दरि रूपे !
कतेक जतन विहि आनि समारल
देखल नयन सरूपे ॥
पल्लवराज चरन जुग सोभित
गति गजराज क भाने ॥
कनक कदलि पर सिंह समारल
ता पर मेरु समाने ॥
मेरु उपर दुइ कमल फुलायल
नाल बिना रुचि पाई ॥
मनि मय हार धार बहु सुरसरि
तओ नहिं कमल सुखाई ॥
अधर बिम्ब सन, दसन दाडिम-विजु
रवि ससि उगथिक पासे ॥
राहु दूर बस नियरो न आवथि
तैं नहिं करथि गरासे ॥

सारँग नयन, बयन पुनि सारँग
सारँग तसु समधाने ॥
सारँग ऊपर उगल रस सारँग
केलि करिय मधुपाने ॥

बाला का अकथनीय सौन्दर्य है। ब्रह्मा ने उसे न जाने कितने यत्नों से बनाया है। उसके दोनों चरण कमल के समान सुन्दर हैं और चाल मदभरे गजराज की सी है। कनक कदली के समान सुडौल जंघाओं पर उसकी सिंह-कटि सी पतली कमर है, जिस पर उभरा हुआ वक्षःस्थल मेरु जैसा प्रतीत हो रहा है। उस मेरु पर दो कुच-कमल नाल के बिना ही खिल रहे हैं। मणिमय हार गंगा की पूत धारा के रूप में वक्ष-मेरु से लिपटा हुआ है अतएव वे नालहीन कमल मुरझाते नहीं हैं। उसके अधर विम्ब फल के समान हैं और दशन दाड़िम-बीज से चमकते हैं। चन्द्रमुख पर लगे हुए सिन्दूर-बिन्दु से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि सूर्य और चन्द्रमा दोनों पास ही उगे हुए हैं। मुख के आस पास पड़े काले केश राहु के समान हैं परन्तु दोनों के पास होने से उनको ग्रसने का साहस नहीं करता। उसके नेत्र मृगी के और बाणी कोयल के समान है। उसके कटाक्षों में कामदेव का वास है। उसके कमल तुल्य ललाट पर काले केश पड़े हुए हैं जो ऐसे प्रतीत हो रहे हैं मानो भ्रमर मधुपान से छक कर उड़ने में असमर्थ हो गये हैं।

इस पद में नखशिख का कैसा निराला वर्णन है। उपमा और उत्प्रेक्षाओं का बड़ा सुन्दर सामञ्जस्य है यौवन के सौन्दर्य-विकास की मनोरम व्यञ्जना है एवं अनुप्रास और यमक की अनुपम छटा अपने सहज रूप में छिटक रही है। विद्यापति ने ऐसे अनेकों पद रूपमाधुरी से भर दिये हैं, जिनको सुनकर मन-मानस हिलोरें खाये बिना नहीं रहता।

विद्यापति ने प्रेम, मिलन, विरह, अभिसार, कौतुक, बसन्त आदि प्रसंगों में एक से एक सुन्दर उक्तियाँ उद्गारित की हैं, जिनमें वैचित्र्य ही नहीं है, भाव-व्यञ्जना भी श्रेष्ठतम है।

नोंक-झोंक प्रकरण में नायक-नायिका की छीना-झपटी का कैसा सुन्दर और मार्मिक चित्रण निम्न पंक्तियों मे हुआ है:—

एकहि नगर बस माधव हे
जनि कर बटमारी ॥
छाड़ु कन्हैया मोर आँचर रे
फाटत नव सारी ।
अपजस होएत जगत भरि हे
जनि करिअ उघारी ॥

कुञ्जभवन से निकलते ही नागर कृष्ण ने राधा को मार्ग में रोक लिया और अनुरक्तिवश उसका वस्त्राञ्चल पकड़ लिया। राधा बोली, हे माधव ! मार्ग में हमें अकेली देखकर डाका न डालो। हे कन्हैया ! हमारा अचल छोड दो, (खींचो नहीं) नई साड़ी है, फट जायगी, हमें उघाड़ी न करो, (कोई देख लेगा तो) संसार में अपयश हो जायगा।

इसमें नवल प्रेमियों की एकान्त से उद्दीपित छीना-झपटी का चित्रण है, जो सहज रूप से हुआ है। इससे व्यंजित कृष्ण की निर्लज्जता और राधा की दीनता एवं विवेक-बुद्धि मानव मात्र के भावों की परिचायिका है। इससे राधा की हृदय-द्रवता भी व्यञ्जित होती है क्योंकि वह न कटु बचन कहती है और न कठोर प्रतिरोध करती है। हाँ, दैन्य अवश्य दिखाती है जो अनुरक्त स्त्री का स्वभाव है। इसमें अनुराग, भय, दैन्य, लज्जा, धैर्य, और विवेक आदि भावों का एकत्र कैसा मनोहर समन्वय है। अनुराग तो सहज है ही, भय इसलिए है कि कोई देख लेगा। अनुराग और भय से दैन्य का संचार हुआ है तथा लज्जा नारी-स्वभाव-वश है। धैर्य नारी का विशेष गुण है इसलिए वह निर्लज्ज हो आतुरता नहीं दिखाती और धैर्य के ही परिणाम स्वरूप विवेक पूर्ण बात कह रही है।

ऐसी मनोरम उक्तियाँ सैकड़ों की संख्या में इस पदावली में भरी पड़ी हैं। दैन्य-कर्म में प्रयुक्त सखियों के प्रतिरोध एवं शिक्षा स्वरूप बचन तो सरस जनों को रोमाञ्चित किए बिना नहीं रहते।

इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति एवं प्रतीप आदि अनेक अलंकारों का प्रयोग हुआ है, जो कवि-प्रतिभा से सहज रूप में आए हैं। विद्यापति ने जान-बूझ कर अलंकारों को भरने का प्रयत्न नहीं किया, यही कारण है कि उनकी रचनाओं में इतना सहज माधुर्य है। उपर्युक्त अलंकारों में उत्प्रेक्षा ही कवि को अधिक प्रिय थी क्योंकि हमें पग पग पर एक से एक सुन्दर उत्प्रेक्षा मिलती है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

अज्ञातयौवना बाला के मनोहर मुख पर लाल अधर और दोनों लोचनों के विषय में कवि उत्प्रेक्षा करता है—

मुख मनोहर अधर रंगे।
फुललि मधुरी कमल संगे॥
लोचन जुगल भृंग अकारे।
मधु क मातल उड़ए न पारे॥

उस बाला के सुन्दर मुख पर लाल अधर ऐसे प्रतीत हो रहे हैं मानो कमल के साथ मधुरी पुष्प खिला हो। उसके दोनों मतवाले नेत्र मुखकमल

पर ऐसे लग रहे हैं मानो भ्रमर मधु का पान कर मदमाते होकर उड़ने में असमर्थ हो गये हैं।

राधा के केश खुलकर उसके उरोजों पर छिटके हुए हैं उनमें उलझी उसकी मुक्तामाल ऐसी भासित हो रही है मानो मेरु पर्वत पर चन्द्रमा को छोड़ कर सभी तारे उदित हुए हैं—

कुच जुग परसि चिकुर फुजि परसल।
ता अरुझायल हारा।
जनि सुमेरु मिलि उगल
चाँद विहिनु सब तारा॥

एक स्थान पर नायिका की त्रिबली को कामदेव का आबद्ध करने के लिए पाश-लता कहा गया है—

गुरु नितम्ब भरे चलए न पारए
माझ खानि खीन निमाई।
भागि जाइत मनसिज धरि राखलि
त्रिवली लता अरुझाई॥

पीन नितम्बों के गुरुतम भार से नायिका चल भी नहीं सकती। उसके पेट पर पड़ी हुई त्रिबली ऐसी जान पड़ती है मानो कामदेव को उलझा कर भाग जाने से रोकने के लिए लता-पाश है।

विद्यापति की उत्प्रेक्षा का विलास देखना है तो निम्न उत्प्रेक्षाओं मे देखिए—

नयन नलिनि दओ अंजन रंजइ
भौंह विभंग विलासा।
चकित चकोर जोर विधि बाँधल
केवल काजर पासा॥

सुन्दरी के दोनों नेत्र अंजन-रंजित थे और भौंहें कुटिल एवं विलास-युक्त थी। उस विलासजन्य चाञ्चल्य से ऐसा प्रतीत होता था कि मानो ब्रह्मा ने एक चकोर-युग्म को अंजन-पाश से बाँध रखा हो।

इसी प्रकार—

सुन्दर वदन चारु अरु लोचन
काजर रंजित भेला।
कनक कमल मांझ काल-भुजंगिनि
स्रीयुत खंजन खेला॥
नाभि विवर सयँ लोम लतावलि
भुजंग निसास पियासा।

नासा खगपति-चंचु भरम-भय
कुच-गिरि सधि निवासा ॥

बाला का कमल-मुख अत्यन्त मनोहारी है। उसपर अंजन-रंजित नेत्र ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो सुवर्ण कमल में काल-सर्पिणी से दो सुन्दर खञ्जन खेल रहे हों। उसके नाभि-विवर से निकली किन्तु कुचों तक पहुँची हुई रोमावली ऐसी प्रतीत होती है मानो कोई सर्पिणी उस बाला के सुवासित श्वास-वायु का पान करने के लिए आगे बढी हो परन्तु नासिका को गरुड़ की चोंच समझ कर दो कुच-गिरियों के सन्धि-स्थल में भयवश जा छिपी हो।

इसी प्रकार अनेकों ही उत्प्रेक्षाऐं इस पदावली में भरी पडी हैं। वास्तव मे क्या संगीत की दृष्टि से, क्या कोमलकान्त पदावली की दृष्टि से, क्या अलंकार की दृष्टि से, क्या भाव-व्यञ्जना की दृष्टि से और क्या रस-परिपाक की दृष्टि से यह पदावली हिन्दी साहित्य-निधि का एक अनुपम रत्न है। रसराज की दृष्टि से तो यह एक सरस मधुकोष ही है, जिससे सहृदय सदैव सरस जीवनसार लेते रहेंगे।

कबीर

कबीर के जीवन-वृत्त के विषय में कोई भी विद्वान् निश्चित रूप से नहीं लिख सका है, इसका कारण यह है कि जिन ग्रन्थ एवं परम्पराओं से कबीर के जीवन पर प्रकाश पड़ता है वे स्वयं तथ्यपूर्ण नहीं। अनेक किम्वदन्तियाँ एवं कपोलकल्पनाएँ भी उनके विषय में प्रचलित हैं, जिनके आधार पर बड़ी मनोरम एवं विचित्र घटनाएँ तथा कहानियाँ लिखी गईं परन्तु उनमें कहाँ तक वास्तविकता है यह कहना कठिन है। कबीर ने अपने विषय मे बहुत थोड़ा लिखा है और वह भी यत्र-तत्र। वहिःसाक्ष्य एवं अन्य विद्वानों के मत-प्रकाशन से पूर्व सर्वप्रथम अंतःसाक्ष्य के आधार पर उनके जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालना यहाँ उपयुक्त होगा।

अन्तःसाक्ष्य—कबीर अपने को जुलाहा या कोरी बार-बार लिखते हैं—

जाति जुलाहा मति को धीरे,
हरषि हरषि गुण रमै कबीर।

* *

तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा।

* *

हरि को नॉव अभय पद-दाता कहै कबीरा कोरी।

ये काशी में उत्पन्न हुए थे और रामानन्द से गुरुमंत्र लिया था—

काशी में हम प्रकट भये हैं, रामानन्द चिताये।

ये मानिकपुर के शेख तकी के पास भी रहे थे परन्तु उनकी शिष्यता को ग्रहण नहीं किया था—

घट घट अविनासी सुनहु तकी तुम शेख।

इस ललकार से स्पष्ट विदित है कि तकी उनके गुरु न थे। एक स्थान पर ये अपनी स्त्री का नाम धनिया लिखते हैं, जिसका नाम कालान्तर में इन्होंने रामजनिया रख दिया था—

मेरी बहुरिया को धनिया नाउ। ले राख्यो रामजनिया नाउ॥

मृत्युकाल आने पर ये काशी से मगहर चले गये थे—

सकल जनम शिवपुरी गंवाया। मरती बार मगहर उठि धाया॥

इस प्रकार उनकी कुछ पंक्तियों से हमें उनके विषय मे थोड़ा ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त कबीर के समकालीन सन्तो ने भी उनके विषय में थोडा-बहुत लिखा है। यह कबीर के जीवन-परिचयार्थ बहिःसाक्ष्य है, जिस पर संक्षेपत: अधोलिखित पंक्तियों में प्रकाश डाला जाता है।

बहिःसाक्ष्य – कबीर के समकालीन जिन संतो ने उनका जीवन-वृत्त अंकित किया है, उनमे भक्तमाल के रचयिता नाभादास, कबीर के शिष्य धर्मदास और भक्त रैदास प्रमुख है। भक्तमाल मे कबीर को रामानन्द का शिष्य लिखा है। नाभादास ने उन्हें भक्त तो लिखा है परन्तु पक्षपातहीन और वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध बतलाया है। कवि की मृत्यु के विषय में भक्तमाल मे निम्न दोहा भी है।

पंद्रह सै उनचास में मगहर कीन्हों गौन।
अगहन सुदि एकादसी मिले पौन में पौन ॥

धर्मदास ने 'निर्भयज्ञान' ग्रन्थ मे लिखा है कि कबीर की मृत्यु पर रीवां के वीरसिंह देव बघेला और बिजली खां में विग्रह हुआ। जब बिजलीखा ने कबीर को समाधि दी तो वीरसिंह उससे लड़ने के लिए उद्यत हुआ परन्तु कबीर ने उससे स्वप्न में कहा कि मेरे अनुगामियों को परस्पर विग्रह नही करना चाहिए।

रैदास ने अपनी बानी में कबीर का जन्म मगहर में लिखा है।

तदनन्तर उन्नीसवीं शताब्दी के तृतीय चतुर्थांश में विद्यमान गरीबदास ने भी कबीर के विषय मे कुछ प्रकाश डाला है। उनके अनुसार इनका जन्म काशी मे हुआ था।

स्वयं कबीर के अन्तःसाक्ष्य और तत्कालीन सन्तों द्वारा लिखित कुछ पंक्तियों के आधार पर तथा किंवदन्तियों का आश्रय ले इनके जन्म-काल, स्थान, जाति, गुरु एवं मृत्यु पर विविध विद्वानों ने जो मत प्रकट किए हैं वे प्राय: परस्पर मेल नहीं खाते।

इनके जन्म के विषय में कबीर-पंथियों में निम्न दोहा प्रसिद्ध है—

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाठ ठये।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भये ॥

इस दोहे का यदि साधारण अर्थ लिया जाय तो कबीर का जन्म सं० १४५५ ज्येष्ठ की पूर्णिमा को ठहरता है। उस दिन चन्द्रवार था और बरसायत या बरसाइत का त्योहार था। श्री युगलानन्द द्वारा संशोधित अनुरागसागर में 'बरसायत' को 'बट सावित्री' का अपभ्रंश माना है। बट-सावित्री का व्रत

ज्येष्ठ की अमावस्या को होता है। उसी दिन कबीर साहब नीमा और नीरू को मिले थे।

डा० श्यामसुन्दरदास का कथन है कि सं० १४५५ में ज्येष्ठ की पूर्णिमा चन्द्रवार को नहीं पड़ती। यदि 'चौदह सौ पचपन साल गए' का अर्थ '१४५५ वर्ष व्यतीत हो जाने पर' ऐसा ले तो सं० १४५६ की ज्येष्ठ पूर्णिमा उनका जन्म दिन ठहरता है परन्तु गणना से उस दिन चन्द्रवार नहीं पड़ता। हाँ, सं० १४५५ की अमावस्या को चन्द्रवार अवश्य पड़ता है और उस दिन बरसाइत भी थी। इसके परिणाम स्वरूप सं० १४५५ की ज्येष्ठ अमावस्या को ही इनका जन्म दिन मानना विशेष उपयुक्त ज्ञात होता है।

अण्डरहिल और स्मिथ ने इनका जन्मकाल सं० १४९७ (१४४० ई०) माना है। हमारी सम्मति में यह ठीक नहीं क्योंकि प्रियादास कृत भक्तमाल की टीका में लिखा है कि कबीर का सिकन्दर लोदी से साक्षात्कार हुआ था। जान प्रिन्स लोदी का समय सन् १४८८ से १५१७ (वि० संवत् १५४५-१५७४) मानते है। लोदी सं० १५५१ (१४९४ ई०) मे काशी गया था। उसके आदेशानुसार ही मृत्यु से कुछ समय पूर्व कबीर को काशी छोड़नी पड़ी थी। यदि सं० १४९७ इनका जन्मकाल माना जाय तो कबीर की आयु उस समय ५४ वर्ष की निश्चित होती है और यदि सं० १४५५ माना जाय तो ९९ वर्ष। द्वितीय सं० ठीक प्रतीत होता है क्योंकि निधन-काल सन्निकट जानकर ही वे काशी से मगहर गए थे। इसके अतिरिक्त सं० १४९७ मे जन्म मानने से श्री रामानन्द जी के साथ उनका सम्पर्क सिद्ध नहीं होता क्योंकि रामानन्द जी का मृत्युकाल सन् १४११ (सं० १४६८) निश्चित है। विलियम बील द्वारा मान्य सन् १४९० (सं० १५४७) भी इनका जन्मकाल नहीं माना जा सकता क्योंकि इसके अनुसार लोदी के मिलन के समय इनकी अवस्था केवल चार वर्ष ठहरती है जो नितान्त अमान्य है। पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने इनका जन्म समय सं० १४३७ (सन् १३७०) माना है। उनका कथन है कि यदि सं० १४५५ (सन् १३९८) उनका जन्मकाल माना जाय तो रामानन्द जी की शिष्यता प्राप्त करते समय उनकी आयु १२ वर्ष की ठहरती है, जो अपरिपक्व सी प्रतीत होती है। दूसरी बात यह है कि भक्त पीपा ने कबीर को रामानन्द का शिष्य लिखा है। पीपा का निधनकाल सन् १४०३ है अतः उस समय कबीर की अवस्था केवल ५ साल की होती है जो ठीक नही। बड़थ्वाल जी की ये दोनों बाते हमें मान्य नहीं क्योंकि १२-१३ वर्ष की अवस्था में भी महान् पुरुष दीक्षा ग्रहण कर सकते है। दूसरा प्रमाण तो निपट निराधार है क्योंकि जे० एन० फरकुहार न 'ऐन आउटलाइन आफ

दी रिलीजस लिटरेचर आफ इण्डिया' नामक पुस्तक में तथा एम० ए० मेकालिफ ने 'दी सिख रिलीजन' नामक ग्रन्थ मे पीपा का जन्म ही सन् १४२५ (सं० १४८२) लिखा है, मृत्यु तो बहुत आगे हुई होगी। यह समय उपयुक्त भी है क्योंकि भक्तमाल में कबीर के साथ पीपा को भी रामानन्द जी का शिष्य लिखा है। पीपा ने अपनी वाणी में 'जो कलि मांझ कबीर न होते' इत्यादि पद मे कबीर की प्रशंसा भी की है, जो कबीर के प्रभाव के पश्चात् ही की जा सकती है। अतः हमें कबीर का जन्म काल सं० १४५५ (सन् १३९८ ई०) ठीक जान पड़ता है।

कबीर के जन्म और जन्मस्थान के विषय में भी अनेक भ्रमात्मक बाते प्रचलित है। श्री जी० एच० वेस्कट ने अपनी 'कबीर ऐण्ड दी कबीरपथ' नामक पुस्तक मे लिखा है कि प्रचलित कहानियों के आधार पर यह नितांत स्पष्ट नही होता कि कबीर का जन्मस्थान कहाँ था, वे कब उत्पन्न हुए थे और किस जाति से सम्बन्ध रखते थे। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्वय कबीर ने अपने को काशी में प्रकट होना लिखा है। 'काशी मे हम प्रकट भए हैं रामानन्द चिताये।' इससे यह भ्रम अवश्य हो जाता है कि जन्म कही अन्यत्र हुआ था और काशी मे तो वे आए थे परन्तु 'तू ब्राह्मन मैं काशी का जुलाहा' इत्यादि पंक्तियो से स्पष्ट हो जाता है कि वे काशी के जुलाहे थे। अपनी मृत्यु के विषय में भी लिखते हुए वे इसी बात को पुष्ट करते हैं कि मैंने सम्पूर्ण जीवन काशी में बिताया परन्तु मरने से पहले मगहर चला गया था।

इनके जन्म के विषय में दो बातें प्रसिद्ध है। कबीरपथी प्रायः मानते हैं कि सं० १४५५ की ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा को जब कि प्रकृति ने नभस्थल को मेघमाला से समाच्छन्न कर रखा था, सौदामिनी अपनी चञ्चल दीप्ति से रह रह कर प्रकाश कर रही थी तथा मयूर-चकोरादि पक्षी सुमधुर ध्वनियों द्वारा स्वागत गान गा रहे थे, ऐसे मनोहर समय में काशी के लहरतारा नामक जलाशय मे एक अलौकिक घटना घटी और वह यह कि सरोवर में विकसित सरजित-सुमनावली में से एक रम्यतम कमल-पुट पर एक दिव्य पुरुष उतरा। वह बालक कबीर था जिसने शीघ्र ही नीमा और नीरू की गोद को समलंकृत किया।

श्रद्धालु कबीरपंथियों की इस मान्यता के अतिरिक्त इस विषय में एक किंवदन्ती और प्रचलित है कि एक बार एक भक्त ब्राह्मण अपनी दुःखिनी विधवा पुत्री के साथ स्वामी रामानन्द के दर्शनार्थ गया। उस बाला ने ज्यों ही विनम्र भाव से स्वामी जी के चरण-कमलों में शिरो-नमन किया कि उनके श्रीमुख

से सहसा यह आशीर्वाद निकला कि पुत्रवती हो। कहते हैं कि उनका आशीर्वाद सफल हुआ और उस विधवा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसे वह लज्जावश उक्त तालाब के किनारे डाल आई। तदनन्तर वहीं से नीरू जुलाहा अपनी द्विरागत पत्नी नीमा के साथ आ निकला। इस सुन्दर बालक को देखा और पत्नी के मना करने पर भी घर ले आया। यही बालक महात्मा कबीर बना। महाराज रघुराजसिंह ने भी अपनी 'भक्तमाल रामरसिकावली' में इस घटना का उल्लेख किया हैं।

ये दोनों ही मान्यताएँ चिन्त्य हैं। प्रथम तो केवल श्रद्धालु कबीरपंथियों की ही श्रद्धा का विषय है और दूसरी घटना में भी तथ्यांश दिखलाई नहीं देना। स्वमी रामानन्द के आशीर्वचन मात्र से विधवा के उदर या कर से पुत्रोत्पत्ति का होना भी नितान्त असम्भव है। स्यात् इस घटना से चमत्कार का सम्बन्ध जोड़ना उन लोगो का काम है जो रामानन्द जी के परम भक्त थे। या उन लोगों का जो घटना को तो सत्य मानते थे परन्तु विधवा को कलंक से दूर रख कर कबीर की जन्मोत्पत्ति पर धब्बा लगा देखना नहीं चाहते थे। परन्तु यदि खोज की जाय तो प्रतीत होगा कि ये ब्राह्मणी के पुत्र न थे वरन् जन्म से मुसलमान थे। श्री गुरुग्रन्थ-साहब में कबीर के सुशिष्य रैदास का एक पद संग्रहीत है, उसका कुछ अंश यह है—

> जाकैं ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहि मानी अहि सेख-सहीद पीरा।
> जाकै बाप वैसी करी पूत अैसी सरी तिहूरे लोक परसिध कबीरा।

अर्थात् जिसके माँ-बाप बकरीद के दिन गौ का बध करते हैं और शेख, सैयद एवं पीरों को मानते हैं, उनका पुत्र त्रिलोक में प्रसिद्ध कबीर है।

इससे स्पष्ट है कि कबीर मुसलमान थे। इनके पूर्वज जुलाहे थे। कबीर के अनेक पदों से स्पष्ट है कि वे स्वयं इसी आजीवका को करते थे।

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि जुलाहे पंजाब से लेकर बगाल तक पाये जाते हैं। ये पंजाब के उत्तरी भाग में युक्तप्रान्त की दक्षिणी सीमा के साथ राजपूताना एवं मध्यभारत की सीमा से मिलते हुए बनारस एवं गोरखपुर कमिश्नरी की पूर्वी सीमा तक, बिहार के उत्तरी भाग में नैपाल की दक्षिणी पूर्वी सीमा तक तथा दक्षिणी बिहार और दक्षिणी बंगाल में बर्दमान से ढाका कमिश्नरी तक बसे हुए है। इन प्रदेशों में किसी समय नाथपंथी योगियों का बड़ा प्रभाव था। ये योगी या युगी कहलाते थे और कपड़ा बुनने का कार्य करते थे। संभवतः मुसलमानों के आने के पूर्व ब्राह्मणों के प्रति इन योगियों में बड़ा असन्तोष उत्पन्न हो गया था और शनैः

शनैः इसने ऐसा उग्र रूप धारण कर लिया था कि वे इसके परिणामस्वरूप मुसलमान हो गए। प्रतीत होता है कि कबीर जिस जुलाहा वंश में पालित हुए थे वह नाथमतानुगामी गृहस्थ योगियों का वंश था और उसने कबीर से एक दो पीढ़ी पूर्व ही मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था। कबीर ने अपने को न हिन्दू लिखा है और न मुसलमान। सम्भवतः उनका परिवार हाल ही में मुसलमान हुआ होगा।

इससे हम इस परिणाम पर आते हैं कि कबीर जन्म से मुसलमान थे। परन्तु इनका परिवार योगियों का मुसलमानी रूप था अतः उसमें वर्णाश्रम धर्म, पूजा एवं अवतारवाद के प्रति श्रद्धा नहीं थी। कबीर भी इनके पक्षपाती नहीं थे। उस समय स्वामी रामानन्द का यश चतुर्दिक फैल रहा था। स्वामी जी वर्णाश्रम धर्म के कट्टर पक्षपाती न थे अतः कबीर के हृदय में उनकी शिष्यता प्राप्त करने का विचार उत्पन्न हुआ। परन्तु उन्हें आशंका थी कि सम्भवतः वे एक मुसलमान को शिष्य न बनावें इसलिए अर्धरात्रि के पश्चात मणिकर्णिका घाट पर जा लेटे,, जहाँ स्वामी जी नित्य प्रति ब्राह्ममुहूर्त में स्नानार्थ आया करते थे। स्वामी जी निश्चित समय पर पधारे। जब उनका चरण-स्पर्श एक सुप्त मानव-कलेवर से हुआ तो उनके मुखारविन्द से सहसा 'राम राम' शब्द निकला। कबीर ने इसी रामनाम को गुरुमंत्र के रूप में ग्रहण किया। जो लोग शेख तकी को इनका गुरु मानते हैं वे भूल करते हैं क्योंकि इन्होंने तकी को तो फटकारा है, यह पहले बताया जा चुका है। हाँ, उनके सम्पर्क में अवश्य आये होंगे।

इनके पारिवारिक जीवन के विषय में भी कोई निश्चय नहीं है। हाँ, कुछ लोगों का कहना है कि लोई इनकी स्त्री थी, जो एक वनखण्डी बैरागी की कन्या थी और जिसने अपने अभ्यागत कबीर की ऋजु साधुचर्या पर मुग्ध हो कर उनका साहचर्य ग्रहण किया था। इसी स्त्री से एक पुत्र और पुत्री भी हुए जिनका नाम कमाल और कमाली था।

कबीर ने एक स्थान पर अपना विवाह तो लिखा है—

नारी तो हम भी करी, पाया नहीं विचार।
जब जानी तब परिहरी, नारी बड़ा विकार॥

इससे यह तो सिद्ध होता है कि कबीर नें विवाह किया था परन्तु लोई ही उसका नाम था यह निश्चित नहीं। एक स्थान पर लोई को सम्बोधित करते हुए वे कहते हैं कि हरि के बिना और कोई रक्षक नहीं। संभवतः यह लोई उनकी कोई शिष्या रही हो। एक पद में उन्होंने अपनी स्त्री का नाम

धनिया भी लिखा है। इस प्रकार यह निश्चित होने पर भी कि उनका परिणय हुआ था यह निर्णय नही होता कि उनकी स्त्री कौन थी।

इनकी मृत्यु के विषय में भक्तमाल में एक दोहा लिखा है जिसके अनुसार सं० १५४६ में ये काशी से मगहर चले गए थे और वहां अगहन सुदी एकादशी को मृत्यु को प्राप्त हुए थे।

यह तिथि ठीक ज्ञात नहीं होती क्योंकि सं० १५५१ में तो ये लोदी से मिले थे। कबीरपंथियों में एक दोहा और भी प्रसिद्ध है—

संवत् पन्द्रह सौ पछत्तरा, कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादशी, रलौ पौन में पौन ॥

अर्थात् सं० १५७५ (१५१८ ई०) में इन्होंने मगहर को गमन किया और उसी वर्ष माघ शुक्ला एकादशी को इनका देहावसान हुआ। यह तिथि ठीक जान पड़ती है क्योकि इससे लोदी का मिलना भी संभव होता है।

कृतियाँ—कबीर लिखे-पढ़े न थे। वे स्वयं लिखते है कि मैंने मसि और कागद कभी हाथ में नहीं लिया। ज्ञात होता है कि उनके समय में उनकी बाणी का संग्रह भी नहीं हुआ था। उनके पश्चात् उनके शिष्यों ने संकलन किया होगा। 'खास ग्रंथ' मे उनकी छोटी बड़ी इक्कीस पुस्तकों का नाम मिलता है—

सुखनिधान, गोरखनाथ की गोष्ठी, कबीर पाँजी, बलख की रमैनी, आनन्दराम सागर, रामानन्द की गोष्ठी, शब्दावली, मंगल, बसंत, होला, रेखता, झूलन, कहरा, हिंडोल, बारहमासा, चाँचर, चोंतीसी, अलिफनामा, रमैनी, साखी और बीजक।

वेस्कट महोदय ने मूसाबोध, महम्मदबोध, कबीर कसौटी, कबीर मनसूर और समदरसी का अंग आदि अनेक पुस्तकों का और उल्लेख किया है परन्तु वे कल्पित बतलाई जाती है।

बीजक इनका प्रामाणिक ग्रन्थ है। रीवाँ नरेश विश्वनार्थसिह ने बीजक की टीका में निर्भयज्ञान, भेदसार, आदिफसार, ज्ञानसागर और भवतरण नामक ग्रन्थों का उल्लेख और किया है जिनकी गणना खासग्रन्थ में नहीं है।

निश्चित रूप से कबीर के मौलिक ग्रन्थों में से 'बीजक' और 'चौरासी अंग की साखी' ही प्राप्य हैं। इनके अतिरिक्त इनके शब्द और साखियाँ "सिख सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थ 'आदि ग्रन्थ' में भी संग्रहीत हैं तथा और भी कबीर शब्दावली आदि में संकलित हुई मिलता है।

मान्य विद्वानों ने कबीर की बाणी के चार भाग किये हैं—बीजक, शब्द, साखी और रमैनी।

बीजक---इसमें कबीर की शिक्षाएँ संग्रहीत हैं। साथ ही स्वमत-प्रतिपादन के साथ परमतखण्डन को विशेष महत्व दिया गया है।

शब्द—कबीर के पद शब्द कहलाए।

साखी—इनके दोहे साखी कहलाते हैं। इनमें धर्म एवं नीति संबन्धी अनेक शिक्षाएँ हैं।

रमैनी—इसमें अनेक शब्द हैं जिनमें कबीर ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इसमें अनेक कूट पद भी हैं।

काव्यत्व—कबीर वास्तव में कोई प्रतिभासम्पन्न शिक्षित व्यक्ति नहीं थे। अतः हम उन्हें प्राकृतिक कवि न मान कर उस कोटि में रखते हैं जिसमें भक्तिपरक भावों के उद्रेक से प्रसूत भावों को उद्गारित करने वाले सन्त स्थान पाते हैं। कबीर एक ऐसे समय में उत्पन्न हुए थे जब मुस्लिम साम्राज्य स्थापित हो चुका था और उसका दमनचक्र हिन्दुओं के लिए भीषण यातना का कारण बना हुआ था। मुसलमान स्थायी रूप से यहाँ के निवासी हो गए थे अतः आवश्यकता थी कि दोनों जातियों में से कटुता समाप्त हो और संगठन एवं सदिच्छा का साम्राज्य हो। स्वामी रामानन्द परम वैष्णव होते हुए भी उपासना के क्षेत्र में वर्णव्यवस्था पर विशेष ध्यान नहीं देते थे। वे निम्न वर्ग को भी अपनाने लगे थे। यह भावना उद्बुद्ध हो गई थी और प्रसार पाने लगी थी। इससे पूर्व स्वयं नाथपंथ के प्रवर्तक गोरखनाथ भी इस भावना का प्रचार कर चुके थे। परन्तु आवश्यकता एक ऐसे व्यक्ति की थी जो निर्भय रूप से हिन्दू और मुस्लिम कुप्रथाओं, प्राचीन विरुद्ध परम्पराओं तथा संकुचित मनोवृत्तियों का विरोध करे और एक ऐसा पावन मध्यम मार्ग निकाले जिस पर चलते हुए मानव मात्र का कल्याण हो। यह कार्य महात्मा कबीर ने किया। मसि-कागद हाथ में लिए बिना ही उन्होंने विभिन्न प्रदेशों में सहस्रों सन्तों के सम्पर्क में आ आकर जिस ज्ञान का उपार्जन किया वह उनकी अन्तर्दृष्टि का उन्मेषक हुआ और इसी ने उनकी काव्यशक्ति को उद्दीप्त कर दिया। वे जो कुछ भी शिक्षा देते, पद और दोहों में देते थे। परन्तु शिक्षित न होने के कारण न भाषा ही उनकी प्राञ्जल थी और न काव्य-कला ही। अतः वे नैसर्गिक कवि न थे वरन् ज्ञान-कपाट खुल जाने से कवि बन गए थे। उन्होंने कविता के लिए कविता नहीं की अतः काव्यगुण एवं छन्द-अलंकारादि पर विशेष ध्यान नहीं दिया। यही कारण है कि उनका काव्य न्यूनपदत्व, अधिकपदत्व, श्रुतिकटुत्व, ग्राम्यत्व एवं और भी अनेक काव्य दोषों से दूषित है।

इनकी भाषा भी कोई एक निश्चित भाषा नहीं। उसमें अनेक भाषाओं

का मिश्रण है। कारण यह है कि ये स्वयं पढ़े तो थे नहीं, पर्यटनशील अधिक थे अतः प्रायः भिन्न भिन्न प्रदेशों मे जाते, सन्तसमागम करते और ज्ञानोपार्जन करते हुए ज्ञानोपदेश किया करते थे। एक स्थान पर इन्होंने 'बोली हमारी पूर्व की' कह कर अपनी बोली को पूर्वी कहा है परन्तु इससे अभिप्राय इनकी मातृभाषा है क्योंकि ये काशी मे उत्पन्न हुए थे। किन्तु काशी मे उत्पन्न होने पर भी उपर्युक्त कारणों से इनकी भाषा में राजस्थानी, ब्रज, पंजाबी, पूर्वी हिन्दी, खड़ी बोली एवं फारसी आदि विविध भाषाओं के नाना शब्दरूप मिलते हैं, यथा—

राजस्थानी—उठ्या, बीछड़ियाँ, विचारिया, रहसी, मारिसी, थैं, जांणौ, डागल, कुंजा, लार आदि।

ब्रज—सोई, जाके, सूझै, बराइ, वाके, फिरि, काढ़ि, मेरौ, लेट्यौ, सगौ आदि।

पंजाबी—पीरां, मुरीदां, काजियां, ववेकी, तिलों विच, भावै, आख्यो, कर नैनों दीदार, तहाँ गुरन दरबारा है आदि

पूर्वी हिन्दी—किवरवा, नगरवा, बहुरिया, मँड़इया, हमका, छवाए, जइयो, अँचरा, बनाइन, सुरतिया आदि।

खड़ी बोली—तुझसे, मेरा, घूमे, हुआ, गया, भागा, ऐसा, मरूँगा, जीऊँगा आदि।

फारसी—मुरशिद, मुरीद, फहम, महबूब, गनी, गनीम, साकिन, तहकीक, अहमक, नादान आदि।

इनके अतिरिक्त इन्होंने अनेक देशज शब्दों का भी प्रयोग किया है जैसे, गरुआ, पातरा, डहकिन, रपटीली, चोलना, ढारस आदि।

इनकी भाषा में बड़ी विशृंखलता है। भिन्न भिन्न भाषाओं के शब्दो को भी सदैव तत्सम रूप में प्रयुक्त नहीं किया है वरन् अनेक स्थलों पर उनके तद्भव एवं अपभ्रष्ट रूपों का प्रयोग किया है। कभी कभी तो एक ही पद्य में कई भाषाओं के शब्द उपलब्ध होते हैं जिनसे इसी परिणाम पर पहुँचा जाता है कि वे रमते साधु थे अतः उनकी भाषा भी सधुक्कड़ी थी।

इनके अनेक कूट पद भी हैं, जिन्हें उलटवासियाँ कहा जाता है। यह शैली इनकी कोई अपनी नहीं थी क्योंकि इनसे पूर्व सिद्ध और नाथ भी इस कूटता का व्यवहार कर चुके थे परन्तु इनकी यह विशेषता है कि इन्होंने अनेक पदों में ऐसे विलक्षण सांकेतिक शब्दों का प्रयोग किया है जिनका वास्तविक अर्थ कबीर ही जानते होंगे। विद्वानों ने उनका अर्थ लगाने का प्रयत्न तो किया

हैं परन्तु वह सत्य हैं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। उदाहरणतः दो पदांश नीचे उद्धृत किये जाते हैं--

जो चरखा जरि जाय, बढ़ैया ना मरै।
मैं कातौं सूत हजार, चरखुला जिन जरै॥
बाबा मोर ब्याह कराव, अच्छा वरहिं तकाय।
जौ लौं अच्छा वर न मिलै, तौ लौं तुमहिं बिहाय॥
प्रथमें नगर पहुँचते, परिगो सोग संताप।
एक अचम्भा हम देखा जो बिटिया ब्याहल बाप॥
समधी के घर समधी आये, आये बहू के भाय।
गोड़े चूल्हा दै दै चरखा दियो दिढ़ाय॥ इत्यादि

* *

है कोई गुरुज्ञानी जग उलटि बेद बूझै
पानी में पावक बरै, अन्धहि आंख न सूझै
गाई को नाहर खायो, हरिन खायो चीता
काग लंगर फांदि कै बटेर बाज जीता
मूस तो मजार खायो, स्यारे खायो स्वाना
आदि कोऊ उदेश जाने, तासु बेश बाना
एकहि दादुर खायो, पाँच खायो भुजंगा
कहहि कबीर पुकार के है दोऊ एकै संगा।

उपर्युक्त पदों में कैसे विचित्र रूपक हैं जिनमें ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ बिठालना सुगम कार्य नहीं। खेंचतान करके ही अर्थ निकाला जा सकता है अन्यथा नहीं। विदित होता है कि कबीर बड़े ज्ञानाभिमानी थे। वे स्थान स्थान पर स्मृति दिलाया करते हैं कि कबीर ने तत्व को जान लिया है। साथ ही वे अनपढ़ तो थे ही परन्तु अपने को बहुज्ञ समझते थे अतः भक्तों पर प्रभाव डालने और आतंक जमाने के लिए ऐसे रूपक और शब्दों का प्रयोग करते थे जिनको सुनकर श्रोता मूढ़ की भांति बैठे रहते होंगे और उनकी ज्ञानगरिमा की भूरि भूरि प्रशंसा करते होंगे।

अनेक स्थलों पर हमें पारुष्य एवं औद्धत्य भी दीख पड़ता है। इसका कारण यही जान पड़ता है कि वे प्रखर स्पष्टवादी थे। जहाँ जहाँ उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों पर आक्षेप करते हुए उग्र भर्त्सना की है वहां उनकी भाषा उग्रतावश प्रचण्ड हो गई है अतएव कहीं कहीं अश्लीलता भी आ गई है और असंयतभाषिता भी। साखीसंग्रह के पृष्ठ १७५ पर २६, २७ एवं २८ वें दोहे अश्लीलता पूर्ण हैं। गँवार, अन्धा, नादान, भाँड आदि असंयत शब्दों का प्रयोग तो उन्होंने खुलकर किया है।

कबीर पन्थ—पहले कहा जा चुका है कि कबीर ऐसे विषम समय में

उत्पन्न हुए थे जब मुस्लिम-साम्राज्यवादिता अपने नग्न रूप में ताण्डव नृत्य कर रही थी। हिन्दू प्रायः अनाथ से थे। मुसलमान यहाँ के निवासी हो गए थे अतः यह मालिन्य और वैमनस्य समाप्त होना ही चाहिए था परन्तु कोई पथप्रदर्शक न था। महात्मा कबीर एक दैवी शक्ति के रूप मे प्रकट हुए, जिन्होंने एक स्वतंत्र पथ चलाया जिस पर चलना हिन्दू-मुसलमान सभी के लिए सुगम था।

कबीर ने जिस पथ को अपनाया था वह मौलिक नहीं था वरन् अनेक विचारधाराओं के सामजस्य का परिणाम था। कबीर भिन्न भिन्न स्थानों पर जाते थे और साधु-मण्डली का सत्संग करते थे अतः वे उनकी विचारधाराओं से भली भाँति परिचित हो गए थे। इन्होंने उनमें से सार निकाल निकाल कर एक नूतन मार्ग बनाया जो कबीर पन्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कबीर के समय मे निम्न सम्प्रदाय एवं विचारधाराऐ प्रचलित थी—

(१) वैष्णव सम्प्रदाय
(२) शांकरमत
(३) विशिष्टाद्वैत
(४) योग मार्ग
(५) शाक्तमत
(६) मुसलमानी एकेश्वरवाद
(७) सूफीमत

कबीर वैष्णव न होते हुए भी वैष्णवी भावना से भली भाँति परिचित थे क्योंकि वे रामानन्द जी के सुशिष्य थे और रामानन्द जी परम वैष्णव थे। यद्यपि उन्होंने वैष्णव सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति, तीर्थ-सेवन, माला-तिलक-छापा आदि वेशभूषा का खण्डन किया है तथापि उसकी अनेक बातों को ग्रहण भी किया है। उन्होंने राम, कृष्ण, केशव, हरि, गोबिन्द एवं सारंगपाणि अनेक नामों को प्रयुक्त किया है परन्तु न तो विष्णु के लिए और न दाशरथि के लिए और न वासुदेव के लिए ही। उन्होंने इनका प्रयोग ब्रह्म के लिए किया है। एक स्थान पर वे लिखते है—

> दुइ जगदीश कहाँ ते आए कहु कौने भरमाया।
> अल्ला राम करीम केशव हरि हजरत नाम धराया॥

इनसे पूर्व रामभक्ति का प्रचार तो रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा द्वारा हो ही रहा था, कृष्णभक्ति का प्रचार भी जयदेव तथा विद्यापति आदि किसी न किसी रूप में कर चुके थे। वास्तव में कबीर को वैष्णव भक्ति-भावना बड़ी प्रिय लगी थी परन्तु मुसलमान होने के नाते तथा निखिल जन-

रोचक मध्यम मार्ग को ध्यान में रखते हुए उन्होंने भक्ति को तो अपनाया परन्तु बाह्य साधनों को न माना। इसका कारण यह था कि वे अवतारवाद और मूर्तिपूजा के परम विरोधी थे।

कबीर पर शांकरमत का भी प्रभाव था। स्वामी शंकराचार्य ने अद्वैत मत का प्रतिपादन किया था। यह अद्वैत सिद्धान्त उपनिषद् एवं वेदान्त दर्शन के आधार पर विवेचित हुआ था। कबीर ने अद्वैत के अनुसार जीव और ब्रह्म में अभेद तो माना परन्तु वेदान्त के विपरीत ज्ञानमार्ग में प्रमुखताप्राप्त विरति के स्थान पर रति को प्राधान्य दिया। उनका माया में भी विश्वास था। अनेक स्थलों पर उन्होंने उसे ठगिनी कहा है। वास्तव में वे माया के दो रूप मानते हैं एक तो वह जो ब्रह्म-प्राप्ति का साधन है और दूसरा वह जो जीव को उससे दूर रखती है। माया का यह विभाजन औपनिषदिक परा और अपरा विद्या का ही स्वरूप जान पड़ता है। अद्वैत सम्बन्धी इनका प्रसिद्ध पदांश नीचे दिया जाता है—

जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तत कथा गियानी॥

शांकरमत के विरोध में स्वामी रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत का प्रचार किया था। उन्होंने अद्वैत तो स्वीकृत किया था परन्तु शंकरस्वामी की भाँति नहीं। वे अद्वैत में भी द्वैत की कल्पना करते थे। वे माया के पक्षपाती नहीं थे और जीव को ब्रह्म का प्रकार मानते हुए भी मोक्षावस्था में भी ब्रह्म में जीव की सत्ता पृथक् ही मानते थे। कबीर ने अद्वैत की इस व्याख्या को तो न माना यद्यपि कबीर रामानन्द जी के शिष्य थे और रामानन्द रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में थे तथापि वे एक स्वतन्त्र विचारक थे क्योंकि उनके गुरु रामानन्द जी स्वयं विष्णु और लक्ष्मी के स्थान पर रामसीता की भक्ति करते थे। उन्होंने उपासना के स्थान पर भक्ति को अपनाया था, जिसमें वर्णव्यवस्था की कठोरता और बाह्य आडम्बरों को विशेष स्थान न था। कबीर ने भी भक्ति को अपनाया तथा मिथ्याचारों का खण्डन किया।

भगवान् पतंजलीकृत योग शास्त्र में जिस योग का विधान हुआ था उसका अल्पांश में ग्रहण बज्रयानी सिद्धों ने किया था, पुनः नाथ सम्प्रदाय ने भी योग को महत्त्व दिया। कबीर ने भी योगसाधना को स्वीकार तो किया परन्तु वे इसकी कठिन चर्चा के पक्षपाती न थे। वे प्राणायाम में नाड़ी एवं चक्रादि का महत्व तो बतलाते हैं परन्तु कायक्लेश की महत्ता स्वीकार नहीं करते। वे सहज क्रिया के मानने वाले थे परन्तु सहजयानी सिद्धों की भाँति नहीं क्योंकि गार्हस्थ्य जीवन को वे ग्राह्य नहीं मानते थे। इन्होंने दण्ड, मुद्रा,

शृंगी आदि योगी-चिन्हों का बड़ा विरोध किया तथा भक्तिहीन योग को निष्फल बताया।

कबीर से पूर्व शाक्तमत का प्रचार भी पर्याप्त हो चुका था। परन्तु इस मत के प्रति हमें कबीर की वाणी में प्रतिक्रिया ही दीख पड़ती है। जहां वे वैष्णों की प्रशंसा करते हैं वहाँ वे शाक्तों की निन्दा करते हैं। एक स्थान पर वे शाक्त ब्राह्मण से भक्त चमार को श्रेष्ठ बतलाते हैं।

कबीर जन्म से मुसलमान थे अतः उन पर मुस्लिम धर्म का भी प्रभाव था। उन्होंने मुस्लिम एकेश्वरवाद को ग्रहण किया था, जिस पर अद्वैत का पूर्ण प्रभाव था। उन्होंने कुरान में वर्णित अल्लाह का नाम तो अपनाया परन्तु अल्लाह के स्वरूप को नहीं। मुसलमानों का अल्लाह निराकार होते हुए भी सगुण है। यही रूप कबीर ने अपनाया अन्यथा वह भक्ति का आलम्बन नहीं हो सकता था। संभवतः यह भावना उनमें सूफियो से आई। जिस प्रकार उन्होंने मन्दिर, तीर्थ, व्रत, छापा-तिलक एवं यज्ञादि का विरोध किया उसी प्रकार मस्जिद, काबा, रोजा, तसबीह एवं बाँग आदि का खण्डन किया। वे इन्हें मिथ्याचार मानते थे।

मुसलमानों में ही पैगम्बर साहब के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् अरब और फारस में एक स्वतन्त्र नवीन विचारधारा उठ खड़ी हुई थी। जो लोग इसके अनुयायी थे वे सूफी नाम से प्रसिद्ध हुए। मुस्लिम आक्रमण के साथ साथ सूफी फकीर भारत में भी आए और उन्होंने अपने मत का प्रचार किया, जिसमें अल्लाह को व्यापक शक्ति माना गया था और ईश्वर, जीव एवं सृष्टि में अद्वैत की मान्यता थी। उन्होंने संसार को मिथ्या तो माना था परन्तु वेदान्त की भाँति नहीं। मिथ्या से तात्पर्य उन्होंने सारहीन लिया था। संसार को वे ईश्वर के सौन्दर्य का प्रदर्शन मानते थे। ईश्वर-प्राप्ति में वे प्रेम को विशेष महत्व देते थे और मानते थे कि निराकार ईश्वर भी अपने भक्त के प्रति प्रेमवश बढ़ता है। इस प्रकार वे निर्गुण ब्रह्म में भी गुणों का आरोप करते थे। कबीर ने उनके इस प्रणयवाद को मानते हुए ब्रह्म का भक्त के प्रति बढना माना। साथ ही यह कहना होगा कि कबीर के प्रणयवाद में वैष्णव भक्ति का पूरा सामंजस्य था।

उपर्युक्त विचारधाराओं एवं सम्प्रदायों के अतिरिक्त कुछ और भी सम्प्रदाय एवं मत थे जिनसे कबीर ने अनेक बातों को ग्रहण किया। अवधूत शब्द उन्होंने नाथपंथ से ग्रहण किया तथा नारायण और नारदी भक्ति ऐकांतिक धर्म से। उनका प्रिय निरंजन शब्द निरंजन सम्प्रदाय से आया तथा शून्य,

विज्ञान और निर्वाण शब्द बौद्ध धर्म से। बौद्ध धर्म में शून्य का अर्थ सत्असत् से परे महान् अभाव था। नाथपंथ में इसका अर्थ ब्रह्मरन्ध्र हुआ। कबीर ने इसका व्यवहार ब्रह्मरन्ध्र और ब्रह्म दोनों के अर्थ में किया। बौद्धधर्म में विज्ञान से तात्पर्य था निर्विकल्पक ज्ञान परन्तु कबीर ने इसका अर्थ विवर्त्त लिया। बौद्ध निर्वाण का अर्थ करते थे महान् अभाव में विलय परन्तु कबीर ने इसका प्रयोग मुक्ति (ब्रह्म-प्राप्ति) के अर्थ में किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की विचारधारा कोई मौलिक नहीं थी। उसमें अनेक विचारों का समन्वय था। वे स्वतन्त्र विचारक अवश्य थे अतः उन्होंने सभी से अपने मतानुसार सारभूत बातें लेकर एक नवीन पंथ चलाया जो कबीर पंथ कहलाया। कबीर पर अद्वैत का प्रभाव था और व निर्गुण ब्रह्म को मानने वाले थे अतः उनकी रचनाओं में रहस्यात्मकता व्याप्त है परन्तु वह वैष्णवी एवं सूफी प्रणयवाद से युक्त होने के कारण औपनिषदिक रहस्यवाद से बहुत कुछ भिन्न है अब कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला जाता है।

कबीर के दार्शनिक सिद्धान्त—साधारण रूप से कबीर निर्गुण ब्रह्म के आराधक हैं परन्तु अनेक स्थलों पर उन्होंने सगुण और निर्गुण से परे एक अलक्ष्य पुरुष को माना है, यथा—

राजस तामस सात्विक निर्गुन इनतें आगे सोई।

तथा

नाद विन्दु तें अगम अगोचर, पाँच तत्त तें न्यारा।
तीन गुनन तें भिन्न है, पुरुप अलख अपारा॥

कबीर ने ब्रह्म के अनेक नाम लिखे हैं—राम, हरि, केशव, माधव, गोविन्द, नन्दनन्दन, शून्य, खालिक, अलख, निरंजन, अक्षय पुरुप आदि। भर्तार, दुलहा, स्वामी, पति तथा खसम आदि शब्दों का भी उन्होंने व्यवहार किया है।

कबीर का ब्रह्म निर्गुण होते हुए भी सगुण है क्योंकि वह भक्तवत्सल है। वह वेदान्त द्वारा मान्य ब्रह्म के समान निष्क्रिय नहीं। वह संसार का कर्त्ता है अतः भक्ति का आलम्बन है। वेदान्त में उसे ज्ञानगोचर कहा है। परन्तु कबीर ज्ञान के साथ रति को भी महत्व देते हैं। उनका ब्रह्म प्रेम पर रीझता है अतः वेदान्त में जहाँ विरति का प्राधान्य है वहां कबीर पंथ में रति का।

भक्ति के लिए ब्रह्म से जीव की सत्ता पृथक् होनी चाहिए अतः कबीर अद्वैत मानते हुए भी ब्रह्म प्राप्ति से पूर्व ब्रह्म और जीव में व्यावहारिक भेद मानते हैं। उनका अद्वैत विशिष्टाद्वैत से अधिक मिलता है परन्तु उनमें इतना

अन्तर है कि विशिष्टाद्वैत में मुक्तावस्था में जीव की सत्ता ब्रह्म से भिन्न रहती है और कबीर-पंथ में ब्रह्मप्राप्ति पर एकरूपता हो जाती है।

जीव के सम्बन्ध में कबीर ने अद्वैत को ही माना है उनका कथन है कि मूलतः जीव ब्रह्म से पृथक् नहीं। वह केवल व्यावहारिक दृष्टि से भिन्न है तथा स्वयं भी वह मायाजन्य अज्ञान से संसार प्रपञ्च में पड़ा हुआ अपने को ईश्वर से पृथक् समझता है। भक्ति द्वारा जब उसकी यह अज्ञान-प्रसूत भेद-बुद्धि विनष्ट हो जाती है तब पुनः वह ब्रह्म में मिलकर एकरूप हो जाता है।

जिस माया ने जीव को भ्रमित किया हुआ है वह माया का वह रूप है जो जीव को ब्रह्म से मिलने नहीं देता। इससे भिन्न माया का एक रूप उन्होंने और माना है जो भगवत्प्राप्ति का साधन है। कबीर ने प्रथम का ही चित्रण किया है। वे कंचन-कामिनी आदि को माया का ही रूप बतलाते हैं और तीन गुण, पंचभूत तथा पच्चीस तत्वों को माया का ही प्रसार कहते है।

सृष्टि के विषय मे कबीर का कोई निश्चित मत नहीं। उनके विविध मत इस प्रकार रक्खे जा सकते हैं—

(१) सृष्टि की उत्पत्ति तीन गुण, पंचभूत एवं पच्चीस तत्वों से हुई परन्तु साथ ही माया का प्रसार होने से भ्रमरूप हैं।

(२) अक्षय पुरुष से निरंजन, निरंजन से ब्रह्मा-विष्णु-महेश और इनसे त्रिगुणात्मक संसार उत्पन्न हुआ।

(३) सर्वप्रथम पुरुष था। उससे मूलप्रकृति हुई और पुनः जीव मूलप्रकृति को पत्नी मानकर उससे लिप्त हो गया और इस प्रकार संसार का आरम्भ हुआ।

(४) माया से अनेक नाम और उपाधि के आरोप को प्राप्त ब्रह्म ही सृष्टि के रूप में बिखरा पड़ा है।

(५) ब्रह्म अपने आनन्द के लिए सीमित हो ऊँकारनाद का रूप धारण करता है, जिससे क्रमशः गुणत्रय, पंचतत्व और अहंकार की उत्पत्ति होती है। यही अहंकार ससारोत्पत्ति का मूल कारण है।

ईश्वर प्राप्ति के साधन बतलाते हुए कबीर कहते हैं कि जब जीव की मायाप्रसूत भेदबुद्धि विनष्ट हो जाती है तब उसे सत्य का ज्ञान होता है। इस ज्ञान का कबीरपंथ मे बड़ा महत्व है परन्तु इस ज्ञान की प्राप्ति को वे साधना की प्रथम सीढ़ी मानते हैं, जहाँ पर साधक गुरु की सहायता से ही पहुँचता

है। तदनन्तर उसमें प्रेमलक्षणा भक्ति उद्बुद्ध होती है। भक्ति का उद्गम नामस्मरण से होता है। नामस्मरण जाप का ही दूसरा नाम है जो सहजयोग की जाप, अजपा, अनहद और सहज समाधि इन चार सीढ़ियों में प्रथम सीढ़ी है। जाप से वह सुरति को प्राप्त करता है। इसी को लौ कहते हैं। इससे वह विरहियो की भाँति प्रणय-प्रलाप करने लगता है। यही विरह उसे तपा तपा कर कुन्दन कर देता है। अब वह मन में ही जाप करता है, जहाँ उसे अनहद शब्द सुनाई पड़ता है और समाधि में निमग्न हो सहजानन्द को प्राप्त होता है।

पहले कहा जा चुका है कि इनकी साधना पद्धति पर योगियों एवं सूफियो का पर्याप्त प्रभाव था। इन्होंने योगियो से योग को ग्रहण तो किया और उसका महत्व भी स्वीकार किया परन्तु उसके द्वारा कायक्लेश एवं दुरुहाचार पर बल न दिया और न योगियों की वेशभूषा का ही कोई मूल्य बताया। सूफियों से प्रणयवाद को ग्रहण किया परन्तु इनकी प्रेमलक्षणा भक्ति की पद्धति बहुत कुछ वैष्णवी ही रही। कबीर आदि निर्गुणिए सन्तों एवं सूफियों में हम एक विशेष अन्तर देखते हैं कि कबीर आदि ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को कुप्रथा एवं मिथ्याचारों के लिए बडा फटकारा है परन्तु सूफियो ने ऐसा नहीं किया। कारण यह था कि कबीर आदि सन्त संसार को मिथ्या मानते थे अतः उनकी दृष्टि में बाह्याचार कोई मूल्य नहीं रखते थे परन्तु सूफियों की दृष्टि में संसार वेदान्तियों की भाँति मिथ्या नहीं तथा संसार का भला और बुरा रूप ब्रह्म का ही रूप है अतः वे बाह्याचारों को महत्व न देते हुए भी उनके कटु विरोधी नहीं थे।

मलिक मुहम्मद जायसी

जायसी के स्थान, काल एवं जीवन के विषय में बहुत कुछ संकेत इनके ग्रन्थों से ही मिल जाते हैं। पद्मावती के अनुसार जायस नगर इनका स्थान था—

जायस नगर धरम अस्थानू।

इस नगर का पहला नाम उदयानू (उद्यान) था—

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर का नाम आदि उदयानू॥

इनके कुछ वाक्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि ये कहीं अन्यत्र उत्पन्न हुए थे और जायस नगर में आकर बस गए थे क्यों कि इन्होने पद्मावती में लिखा है—

तहाँ आइ कवि कीन बखानू।

वहाँ अर्थात् जायस नगर में आकर कवि ने पद्मावती की कथा का वर्णन किया था। इसी प्रकार आखिरी कलाम में भी अपने को वहाँ का अतिथि बतलाते हैं—

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नावँ आदि उदयानू॥
तहा दिवस दस पाहुने आएउँ। भा वैराग बहुत सुख पाएउँ॥

इन चौपाइयों के आधार पर डा० ग्रियर्सन आदि कतिपय विद्वानों ने यह अनुमान लगाया कि ये जायस के निवासी नहीं थे। परन्तु यह भ्रमपूर्ण ही है क्योंकि इनके 'जायस नगर धरम अस्थानू' ये शब्द स्पष्ट बतला रहे हैं कि जायस नगर ही उनका धर्मस्थान था। धर्मस्थान से तात्पर्य पवित्र स्थान से है और मनुष्य के लिए जन्मस्थान ही सर्वाधिक पवित्र स्थान होता है। परन्तु इतना अवश्य मानना होगा कि ये जायस से प्रायः अन्यत्र जाया करते थे और पुनः वहाँ आकर वास करते थे।

इनका जन्मकाल—९०६ हिजरी (सन् १४९९ ई०) है। आखिरी-कलाम में इन्होंने लिखा है—

भा औतार मो नौ सदी।
तीस बरिस ऊपर कवि बदी॥

अर्थात् मेरा जन्म 'नौ सदी' के पश्चात् हुआ और जन्म से तीस वर्ष ऊपर होने पर मैने इस ग्रन्थ को लिखा। इसके पश्चात् आखिरी कलाम का रचनाकाल देते हुए इन्होंने लिखा है—

नौ सै बरस छतीस जो गए।
तब एहि कथा क आखर कहे॥

इससे स्पष्ट है कि हिजरी सन् ९३६ (सन् १५२८) मे इन्होने आखिरी-कलाम लिखा। पहले कहा जा चुका है कि जन्म से तीस वर्ग अधिक हो जाने पर इसे लिखा था। इससे सिद्ध होता है कि इनका जन्म काल ९०६ हिजरी ही है तथा 'नौ सदी' से तात्पर्य 'नौवी सदी के पश्चात्' है। हिजरी सन् ९३६ सन् १५२८ ई० के लगभग पड़ता है जो मुगल बादशाह बाबर का शासन-काल है। इन्होने आखिरी कलाम मे बाबर की प्रशंसा भी की है—

बाबर साह छत्रपति राजा।
राजपाट उन कहँ विधि साजा॥

इससे उपर्युक्त समय प्रमाणित हो जाता है।

परिचय—ये एक कान से बहरे और एक आँख से काने थे। इनका रूप-रंग भी आकर्षक न था परन्तु पहुँचे हुए संत होने के कारण अमेठी के राजघराने में इनका बड़ा सम्मान था। इनके चार मित्र थे—मलिक यूसुफ, सलार कादिम, सलोने मियाँ और बड़े शेख।

इन्होंने अपने तीनों ही ग्रन्थों—पद्मावती, अखरावट और आखिरी कलाम—में अपने गुरु का उल्लेख किया है। पद्मावती मे वे एक स्थान पर सैयद असरफ जहाँगीर को अपना गुरु बतलाते है और दूसरे स्थान पर शेख मोहिदी (मुहीउद्दीन) को—

सैयद असरफ पीर पियारा।
जेहि मोंहि पंथ दीन उंजियारा॥ पद्मावती

*   *

गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा।
चले उताउल जेहि कर खेवा॥ पद्मावती॥

अखरावट में भी इन्होंने इन दोनों को गुरु रूप मे स्वीकार किया है—

कही तरीकत चिश्ती पीरू। उधरित असरफ औ जहँगीरू॥
पा पाएउं गुरु मोहदी मीठा। मिला पंथ सो दरसन दीठा॥

परन्तु आखिरी कलाम में इन्होंने सैयद अशरफ जहाँगीर को ही अपना पीर (गुरु) अपने को उनका मुरीद (शिष्य) माना है—

मानिक एक पाएउं उजियारा। सैयद असरफ पीर पियारा॥

जहाँगीर चिश्ती निरमरा। कुल जग महं दीपक विधि धरा ।।
तिन्ह घर हौं मुरीद सो पीरू। मंवरत बिनु गुन ताबे तीरू ।।

जायसी ने दोनों पीरों की जो वंशावली दी है, उससे प्रतीत होता है कि ये चिश्ती सम्प्रदाय के निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा में थे। इनकी दो शाखाएँ थीं, एक सैयद अशरफ की शिष्य परम्परा और दूसरी वह जिसमें शेख मोहिदी हुए। दूसरी शाखा मानिकपुर कालपी आदि की है।

रचनाएँ—जायसी ने छोटे-बड़े अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। नागरी प्रचारिणी सभा, बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, सैयद कल्वे मुस्तफा, डा० स्प्रेंगर तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल एवं जनश्रुति के आधार पर इनकी रचनाओं की जो सूची मिली है, उससे ज्ञात होता है कि उनकी संख्या लगभग बीस है। ग्रन्थावली इस प्रकार है—

१ पद्मावती	११ मुखरानामा
२ अखरावट	१२ पोस्तीनामा
३ आखिरी कलाम	१३ मुहरानामा
४ सखरावत	१४ नैनावत
५ चंपावत	१५ कहारनामा
६ इतरावत	१६ मेखरावट नामा
७ मटकावत	१७ घनावत
८ खुर्वानामा	१८ स्फुट छन्द
९ मोराई नामा	१९ सोरठ
१० मुकहरा नामा	२० परमार्थ जपजी

इनमें से पद्मावती, अखरावट और आखिरी कलाम ही उपलब्ध हैं।

'आखिरी कलाम' मे कयामत (निर्णय के दिन) का वर्णन है। इसकी रचना इन्होंने तीस वर्ष की आयु में की थी। इसके अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि एक पक्का मुस्लिम युवक वास्तविकता से दूर, विधान के अनुसार अल्लाह के आदेश से घटित प्रलय, पुनर्जागरण, निर्णय के दिन तथा स्वर्ग के आनन्द का वर्णन कर रहा है। इसमें फरिश्तों और मुहम्मद साहब का जो स्थान है वह इस्लाम के अनुसार ही प्रदर्शित किया गया है परन्तु सूफी सिद्धांतों से पूर्णतः मेल नहीं खाता।

'अखरावट' को सूफी-तत्व-मञ्जूषा कह सकते हैं। इसमें वर्ण-माला के कुछ अक्षरों को लेकर एक-एक वर्ण पर अक्रम से कुछ सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। ईश्वर, सृष्टि, जीव, संसार-असारता, ईश्वरीय-प्रेम एवं उनके साधनों का बड़े सुन्दर ढंग से विवेचन हुआ है।

इसके अनुसार सूफीमत के तत्वों का निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है। सर्वादि और सर्वान्त ईश्वर ही है। चौदह भुवनों का विस्तार उसी का खेल है और इनमें वही व्याप्त है। इन लोकों में अठारह सहस्र योनियों के जितने भी प्राणी हैं वे सब उसी से उत्पन्न हुए हैं। सम्पूर्ण चराचर जगत उसी का खेल है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। वही एक नाना नाम और रूपों में व्याप्त है। सर्वप्रथम अभाव था, जिसमें उसी की सत्ता थी। उससे मुहम्मद नाम की ज्योति आविर्भूत हुई और उसी ज्योति के निमित्त उसने सृष्टि का सृजन किया। अष्टादश सहस्र योनियों की निर्मिति के उपरान्त पुण्य-पाप एवं सुख-दुख का विधान हुआ। परन्तु यह दृश्यमान चराचर जगत् उससे भिन्न नहीं। नदी, नद, पर्वत, समुद्र, सूर्य, चाँद, वनस्पति आदि सभी कुछ उसी के विविध रूप हैं।

यह सर्वव्यापक एवं अद्वैत-रूप ईश्वर की मान्यता कुरान के विरुद्ध है। सूफी कुरान को एक पवित्र ग्रन्थ और पैगम्बर को एक महान् पुरुष मानते हैं परन्तु उनमें कट्टर मुसलमानों की भाँति विश्वास नहीं रखते।

सूफीमत के अनुसार ईश्वर सौन्दर्य और प्रेमरूप है। वह इतना सुन्दर है कि उसे स्वयं अपने से प्रेम हो गया और अपना रूप देखने के लिए उसने अपने को सृष्टि के रूप में बिखेर दिया। अतः चराचर जगत् उसके सौन्दर्य का प्रदर्शन है। जीव उसी का अंश है परन्तु प्रपञ्चवश वह अपने को उससे भिन्न समझता है और क्रोधादि कषायों के वशीभूत हुआ संसार में लिप्त रहता है। उसका विकृत आत्मतत्व उसे अपने स्रोत की ओर मुड़ने नहीं देता।

संसार से मुक्त होने के लिए साधक को सर्वप्रथम शरीअत का आश्रय लेना पड़ता है और बाह्य-विधानों द्वारा चित्त को एकपथगामी बनाना पड़ता है। पुनः सच्चा मुरीद (शिष्य) बनकर किसी मुरशिद (गुरु) से प्रदर्शित मार्ग पर बढ़ता हुआ तरीकत की स्थिति में आता है, जहाँ ज्ञान के आलोक में उसका हृदय (कल्ब) एकाग्र हुआ आगे बढ़ता है और वास्तविकता से परिचित होता है। यह उसकी हकीकत की अवस्था होती है। तदनन्तर वह मारिफत की स्थिति में पहुँचकर (हाल) हर्षोन्माद की अवस्था से फना (स्वलीनता) और बका (तद्रूपता) की स्थिति में पहुँच जाता है। यहीं वह अपने प्रियतम का साक्षात्कार करता है। यही सूफीमत के अनुसार प्रियमिलन है और यही मुक्ति है। सूफियों के अनुसार फना और बका दोनों ही एक ही स्थिति के क्रमशः निषेधात्मक और विधेयात्मक दो रूप हैं।।

इस साधना में सूफी अन्तर्यात्रा करता है, जिस पर सात कयाम होते

है। ये सात स्थितियाँ ही हैं। तदनन्तर साधक ब्रह्मरन्ध्र में ब्रह्म का साक्षात्कार करता है।

सूफी साधना का सारा रहस्य प्रेम पर आधारित है। कहा जा चुका है कि ईश्वर को अपने ही सौन्दर्य से प्रेम हो गया और उसने अपने रूप को देखने के लिए ही विश्व के रूप में बिखेर दिया। इसीलिए सूफी भी अपने प्रियतम ईश्वर को रिझाने के लिए प्रेम को ही साधन बनाता है। वह उसे प्रियतमा समझकर ही प्रेम करता है, उसकी स्मृति में रोना, गुणगान करना और यहाँ तक कि मूर्च्छित तक हो जाता है। वह इश्क़े मजाजी (सांसारिक प्रेम) से भी इश्क़े हक़ीक़ी (ईश्वरीय प्रेम) को जगाता है। इल्म (ज्ञान) और जिक्र (ध्यान एवं जाप) का आश्रय लेता हुआ भी वह इश्क (प्रेम) को सर्वाधिक महत्व देता है। यही प्रेम उसे उसके प्रियतम से मिलाने में सहायक होता है।

इस साधना में सूफी वाह्याचार को महत्व नहीं देते परन्तु निर्गुणिए सन्तों की भाँति खण्डन भी नहीं करते, क्योंकि संसार को वे उनके समान मिथ्या नहीं मानते तथा पाप-पुण्य को ईश्वरीय रूप मानते हैं। अतः उनकी दृष्टि में भला-बुरा सब अपने स्थान पर ठीक है।

पद्मावती—यह काव्य ही वास्तव में जायसी को अमर बनाने वाली कृति है। इस ग्रन्थ के निर्माण-काल के विषय में जायसी ने लिखा है—

सन नव सै सत्ताइस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा॥

अर्थात् हिजरी सन् ९२७ (लगभग ई० सन् १५२०) में कथा को प्रारम्भ किया। यह समय लोदी वंश का है। परन्तु जायसी ने पद्मावती में ईश्वर, मुहम्मद साहब एवं खलीफाओं की प्रशंसा करने के पश्चात् दिल्ली के सुलतान शेरशाह की प्रशंसा की है। दिल्ली में शेरशाह का समय सन् १५४० ई० से प्रारम्भ होता है। इससे उक्त कथन का विरोध होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि सन् १५२० ई० में कुछ थोड़ा-सा अंश बनाया होगा। पुनः सन् १५४० ई० में (शेरशाह के समय में) इसे समाप्त किया होगा। 'अहा' और 'कहा' भूतकालिक क्रियाओं से भी यही ध्वनित होता है कि उस समय सन् ९२७ हिजरी था, जब कथा के प्रारम्भिक वचनों को कहा था।

यह काव्य प्रेमकाव्य-परम्परा में समानता नहीं रखता। वास्तव में अवधी के रहस्यात्मक ग्रन्थों में यह अनूठा है। इसमे सात अर्धालियों के पश्चात् एक दोहे का क्रम रखा गया है। इस दोहे-चौपाई के क्रम का स्पष्ट प्रभाव हम गोस्वामी तुलसीदास पर भी देखते हैं। यद्यपि तुलसीदास ने एक अर्धाली का अधिक प्रयोग किया है परन्तु उससे पद्धति में कोई अन्तर नहीं

आता। कुछ विद्वानों का कथन है कि तुलसीदास ने इस शैली को जायसी से नही अपनाया क्योकि प्रेममार्गी कवियों से पूर्व भी सिद्धो एवं वीरगाथा-काल के कुछ कवियों ने इस शैली को यत्र-तत्र प्रयुक्त किया था। परन्तु हमें यह मान्य नही क्योंकि चौपाई का प्रयोगमात्र ही उसका प्रमाण नही हो सकता। यह प्रयोग कई शताब्दियों पूर्व हुआ था और वह भी काव्य या काल की दृष्टि से अविच्छिन्न रूप में नही। प्रेम-काव्यों की तो इस शैली में एक अविच्छिन्न धारा थी। स्वयं जायसी ने अपने से पूर्व निर्मित स्वप्नावती, मुग्धावती, मृगावती और मधुमालती नामक चार प्रेम-कथाओं का उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि ये पुस्तकें पहले विद्यमान थी। मृगावती और मधुमालती की खडित प्रतियाँ तो आज भी उपलब्ध हैं। तुलसीदास भक्तिकाल में ही जायसी के पश्चात् हुए थे। अतः यह शैली उन्होंने जायसी से ही ली, इसमें तनिक भी सन्देह नही।

इस काव्य की रचना मसनवियों के ढंग पर हुई है। प्रारम्भ में ईश्वर, मुहम्मद साहब, खलीफाओं, शाहेवक्त (तत्कालीन राजा) तथा गुरु की क्रमानुसार स्तुति की गई है। पुनः कथारम्भ हुआ है, जो सर्गबद्ध न हो कर प्रसंगानुसार हुआ है। इसमे हिन्दू-मुस्लिम विचारों का अच्छा सम्मिश्रण है। कथा ऐतिहासिकता को लिए हुए हिन्दू ही है। परन्तु कथा में इतिहास विरोधी अंश भी पर्याप्त है। इतिहास के अनुसार चित्तौड़ के शासक भीमसिंह की रानी का नाम पद्मिनी था, जो सिंहल के राजा हम्मीर शक की कन्या थी। 'पद्मावती' में राजा का नाम रतनसेन और रानी पद्मावती है जो सिंहल द्वीप के राजा गन्धर्वसेन की कन्या है। कथा का पूर्वार्द्ध कल्पित ही कहना चाहिए, जिसमे रतनसेन हीरामन तोते से पद्मावती की प्रशसा सुनकर उसके वियोग में रानी नागमती को छोड़ कर सोलह हजार राजकुमारों के साथ सिंहलद्वीप जाता है और वहाँ हिन्दू देवताओं की सहायता से पद्मावती से विवाह कर लेता है। कथा के उत्तरार्द्ध में ऐतिहासिकता अधिक है, जिसमें पद्मावती (इतिहास मे पद्मिनी) की प्रशंसा सुनकर दिल्ली का राजा अल्लाउद्दीन चित्तौड़ पर आक्रमण करता है। पुनः राजा का बादशाह द्वारा बन्दी बनाकर ले जाया जाना और रानी का गोरा-बादल की सहायता से राजा को छुड़ा लाना इतिहास से प्रायः मिलता है। किन्तु देवपाल की कथा कल्पित है, जिसमें देवपाल राजा की अनुपस्थिति मे पद्मावती के पास उसे फुसलाने दूती को भेजता है, जिसके परिणाम स्वरूप राजा और देवपाल में युद्ध होता है और दोनों मारे जाते है।

जायसी ने इसे महाकाव्य का रूप देने का प्रयत्न किया है। यह ५८ सर्गों में समाप्त हुआ है। राजा रत्नसेन क्षत्रियकुलोत्पन्न राजा है। नायिका पद्मावती भी तदनुकूला है। यद्यपि इसके सर्ग मसनवियों के ढंग पर प्रसंगानुकूल हैं तथापि इससे प्रधान विचारधारा में कोई अन्तर नहीं आता। इसमें प्रकृति-वर्णन, ऋतु-वर्णन, युद्धवर्णन, आदि वर्णन सुचारु रूप से अंकित हुए हैं। यहाँ तक कि भोजन, शकुन आदि के वर्णन भी बड़े विस्तार से हुए हैं। मानव-प्रकृति का वर्णन तो इसकी विशेपता ही है। इसका कथानक जीवन के अधिकांश से सम्वन्ध रखता है तथा पद्मावती की प्राप्ति-रूप उद्देश्य भी महान् है।

इसकी सम्पूर्ण कथा को रहस्यात्मकता से परिपूर्ण बनाने के लिए जायसी ने अनेक संकेत किए हैं। अन्त में उन्होने सम्पूर्ण कथा को अध्यात्म-रूप देने के लिए स्पष्ट ही लिख दिया है—

मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुप के घट माहीं॥
तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बांचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदी सुलतानू॥
प्रेम-कथा एहि भांति बिचारहु। बूझि लेहु जौ बूझै पारहु॥

इससे स्पष्ट है कि जायसी स्वयं इस कथा में रहस्यात्मकता मानते हैं।

कथा में नखशिख, युद्ध, भोजन, शकुन आदि के वर्णन-विस्तार ने मूल अध्यात्म प्रवृत्ति को बड़ी हानि पहुँचाई है। इसीलिए कुछ लोग जायसी के स्पष्ट कह देने तथा अनेक स्थलों पर संकेत करने पर भी इसमें रहस्यात्मकता नहीं मानते। परन्तु उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि कथा के प्रत्येक वाक्य और शब्द से व्यंजना नहीं हुआ करती। प्रस्तुत काव्य में जिस रहस्य की व्यंजना की गई है, वह प्रधान कथासूत्र में ही समझनी चाहिए न कि सविस्तर वर्णन सहित समूची काव्य-पदावली में। इसके अतिरिक्त सूफीमत में इश्के मजाजी (लौकिक प्रेम) को इश्के हक़ीक़ी (आध्यात्मिक प्रेम) का साधन माना गया है। अतः प्रस्तुत प्रेम-कथा में नखशिख आदि का वर्णन कोई असमंजस उत्पन्न नहीं करता। इसी प्रकार ये लोग इनकी रहस्यात्मकता के विरोध में यह प्रमाण भी देते हैं कि नागमती दुनिया-धंधा, अर्थात् संसार प्रपंच है जो माया का ही इतर अभिधान है किन्तु वह तो राजा की प्रिया और अन्ततोगत्वा पद्मावती की भी प्रिया सखी हो जाती है और यह माया,

जीव एवं ब्रह्मशक्ति का मेल अध्यात्म में अनुचित है। यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि सूफीमत में भला और बुरा दोनों ही ईश्वर के रूप हैं। अतः इससे उपर्युक्त विषय में कोई व्याघात नहीं आता।

कथा में अध्यात्म को सूक्ष्मतः हम इस प्रकार कह सकते हैं कि शरीर में हृदय एक चेतनांश है जो साधनावश बुद्धि अर्थात् ज्ञानस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ता है। साधनामार्ग में गुरु ही पथप्रदर्शक होता है। उसके बिना मार्ग नहीं सूझता। गुरु की कृपा से ही शिष्य सिद्धि के भेद को जान पाता है। संसार का प्रपंच उसे अपनी ओर खींचता है, माया मोहिनी डालती है और शैतान उसे पथ-भ्रष्ट करना चाहता है तथा अन्य अनेक बाधाएँ भी आ कर मार्ग को और दुरूह बनाती हैं परन्तु अन्त में धर्म, तप, नियम एवं सत्य के प्रभाव से वह सब पर विजय पाता हुआ चैतन्य देव को प्राप्त करता है। इस प्रबन्ध में भी रत्नसेन को प्रेम-मार्ग का साधक चित्रित किया गया है। पद्मावती रूप चैतन्य देव की प्राप्ति ही उसका ध्येय है। नागमती रूप प्रपंच, अलाउद्दीन रूप माया एवं राघव रूपी शैतान अनेक बाधाओं और कष्टों के कारण हैं। समुद्र आदि मार्ग की विषमताएँ हैं। परन्तु सत्य की कृपा से वह इन सब पर विजय पाता है। अन्त में सिंहलद्वीप रूप हृदय (शिवलोक) में पहुँच कर ऊपर चढ़ता है और पुनः चार या सात स्थितियों के पश्चात् दशम द्वार (ब्रह्मरंध्र) में पहुँचता है। वहाँ उसे पद्मावती रूप सिद्धि की प्राप्ति होती है।

प्रेम-काव्यों में हम 'पद्मावती' को प्रतिनिधि काव्य कह सकते हैं। क्योंकि क्या काव्य की दृष्टि से और क्या अध्यात्म की दृष्टि से यह सर्वोत्कृष्ट है। नागमतीखण्ड में विरह-वेदना की जो अभिव्यक्ति हुई है वह अनुपमेय है। अन्य सूफी प्रेम-काव्यों की भाँति इसमें भी नाथपंथ का व्यापक प्रभाव है। रतनसेन स्वयं योगी हो कर जाता है। हठयोग को भी जायसी ने अंशतः ग्राह्य माना है, जिसके परिणाम स्वरूप इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियों एवं ब्रह्मरंध्र आदि का इन्होंने यत्र-तत्र प्रतिपादन किया है। इसके साथ वेदान्त का तो पूर्ण प्रभाव ही है। क्योंकि साधना द्वारा जीवात्मा का परमात्मा से अभेद रूप में मिलन ही वस्तुतः इसका वर्ण्य विषय है।

जायसी की काव्य-कला—पहले कहा जा चुका है कि पद्मावत एक महाकाव्य है, जिसकी कथा का आधार रत्नसेन का पद्मावती के प्रति प्रेम है। प्रेम-काव्य होने के कारण इसमें प्रधान रस शृंगार है। शृंगार के दो भेद होते हैं—संभोग और विप्रलम्भ। जायसी ने इन दोनों का बड़ा सुन्दर और मार्मिक

चित्रण किया है। यह काव्य मसनवियों के ढंग पर लिखा गया है। मसन-वियों में नायक की ही विह्वलता, तड़पन, बिसूरन और लोट-पोट का वर्णन होता था। अतः उनका प्रेम और विरह का वर्णन एकपक्षीय था। उसमें अलौकिकता और आदर्श का विशेष महत्त्व था। परन्तु जायसी ने अपने काव्य मे इतनी विशेषता की कि यद्यपि आदि में प्रेम का चित्रण ऐकान्तिक अवश्य हुआ परन्तु बाद में रत्नसेन और पद्मावती दोनों के प्रेम में प्रगाढ़ता दिखलाई है। नागमती का वियोग वर्णन तो भारतीय पद्धति पर ही हुआ है। रत्नसेन को पद्मावती के रूप-सौंदर्य की प्रशंसा सुनकर अनुराग हुआ है। अतः इस कथा में प्रारम्भ से ही भावपक्ष की प्रधानता है। यद्यपि वह सौंदर्य शारीरिक ही था और रत्नसेन का मानस भी विलासिता से ही उद्वेलित हुआ था परन्तु रत्नसेन को उसके वियोग में योगी बना कर और पद्मावती को पाने के लिये सिंहलद्वीप की यात्रा पर भेज कर उस प्रेम को स्थूल नहीं रहने दिया है, उसमे एक सूक्ष्मता है, एक आदर्श है और है अध्यात्म की गहन-तम ऊँचाई। जायसी के मस्तिष्क में कथा के साथ-साथ रहस्यात्मकता की व्यंजना का जो भाव था, उसने कथा में कहीं-कहीं अस्वाभाविकता ला दी है।

इस काव्य में हमें सर्वप्रथम वियोग शृंगार दिखलाई देता है। प्रेम-विह्वल रत्नसेन का वियोग सूर्य, वन, वनस्पति, भूमि, पक्षी, अग्नि, गगन, मेघ और पर्वत सभी को अपने रँग में रँग रहा है—

> नैनहिं चली रकत की धारा। कंथा भीजि भएउ रतनारा॥
> सूरज बूड़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू वन राता॥
> भा बसंत राती बनसपती। औ राते सब जोगी जती॥
> भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू। औ राते तहँ पंखि पखेरू॥
> राती सती, अगिनि सब काया। गगन मेघ राते तेहि छाया॥
> ईंगुर भा पहार जौ भीजा। पै तुम्हार नहिं रोवँ पसीजा॥

नागमती का विरह-वर्णन तो विप्रलम्भ शृंगार का अनूठा उदाहरण है। नागमती विरहाग्नि से आधी जल गई है, शरीर का मांस सूख गया है, भूखे विरह-काल ने मांस तो खा लिया है अब वह हड्डियों को भी खाने लगा है। वह अग्नि अब इतनी बढ़ गई है कि पर्वत, समुद्र, मेघ, चन्द्र और सूर्य भी उसे सह नहीं सकते—

> अधजर भइउँ, मांसु तनु सूखा। लागेउ विरह काल होइ भूखा॥
> मांसु खाइ अब हाड़न्ह लागै। अबहुँ आउ, आवत सुनि भागै॥
> गिरि, समुद्र, ससि, मेघ, रवि सहि न सकहिं वह आगि।

निम्न पद्य में नागमती के विरह का कैसा मार्मिक वर्णन है। विरह-ज्वाला से मेघ काले हो गए है, राहु और केतु भी जल गए है, सूर्य और चन्द्र

भी जल रहे हैं, नक्षत्र तो जल कर गिर रहे हैं, पृथ्वी भी जल रही है जिससे वन-उपवन जलने लगे हैं। विरह-श्वासों की लपटों से पर्वत जल-जल कर अंगारे हो गए हैं, पशु-पक्षी जल रहे हैं, समुद्र भी खौलने लगा है जिससे मगरमच्छ दुखी हो कर डूब गये हैं। धीरे-धीरे वह समुद्र भी भस्म हो गया, जिससे सारे विश्व में धुआँ ही धुआँ छा गया—

अस परजरा विरह कर गठा। मेघ साम भए धूम जो उठा॥
दाढ़ा राहु, केतु गा दाधा। सूरज जरा, चांद जरि आधा॥
औ सब नखत तराईं जरही। टूटहिं लूक, धरति महँ परहीं॥
जरै सो धरती ठावँहिं ठाऊँ। दहकि पलास जरै तेहि दाऊँ॥
विरह-सांस तस निकसै झारा। दहि दहि परबत होहिं अँगारा॥
भँवर पतंग जरैं औ नागा। कोइल, भुजइल, डोमा कागा॥
बन-पंखी सब जिउ लेइ उड़े। जल महँ मच्छ दुखी होइ बुड़े॥

महूँ जरत तहँ निकसा, समुद बुझाएउँ आइ।
समुद पानि जरि खाक भा, धुँआ रहा जग छाइ॥

नागमती के वियोग-वर्णन में बारहमासा तो मानो वियोगिनी के विरह के बारह लघु चित्रों का एक समूह है।

वियोग-वर्णन में जो अस्वाभाविकता-सी दीख रही है, वास्तव में उससे विरहाधिक्य की व्यंजना की गई है। विरह की विषम ज्वाला वियोगिनी को इसी प्रकार जलाती है और सारा विश्व भी उसे उसी प्रकार जलता दीखता है। वियोग में कृशता, शुष्कता, संताप, अश्रुमोचन, दैन्य और विकलता का जैसा स्वाभाविक वर्णन होना चाहिए, जायसी ने वैसा ही किया है। इस वियोग-वर्णन में जायसी ने भारतीयता का पूरा ध्यान रखा है। नागमती एक पवित्र हिन्दू-नारी का आदर्श उपस्थित करती है और रानीपन भूलकर प्रिय के वियोग में सन्तप्त होती है। वह पद्मावती से ईर्ष्या नहीं करती। वह पद्मावती के पास संदेश भेजती हुई उससे केवल प्रिय-दर्शन की लालसा प्रकट करती है—

हमहुँ बियाही सँग ओहि पीऊ। आपुहिं पाइ, जानु पर-जीऊ।
मोहिं भोग सौं काज न बारी। सौंह दीठि कै चाहनहारी॥

'हमहुँ बियाहीं ओहि सँग पीऊ' में कितना हृदयविदारक भाव भरा है! कितना दैन्य है इन शब्दों में! ज्ञात होता है कि नागमती का हृदय ही घुल कर उस संदेश-पत्र में गया होगा।

इस प्रकार जायसी ने वियोग का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। वियोग के अतिरिक्त संभोग का वर्णन भी कवि ने किया है परन्तु वह इतना

सुन्दर नहीं बन पड़ा है। पद्मावती को देखते ही रत्नसेन मूर्छित हो जाता है। वाह! रूप-बाण की ऐसी अनियारी कोर कि आशिक चौखानें चित्त गिरे! यह निपट फारसी प्रभाव है। जायसी ने अभिसार का वर्णन खुल कर किया है परन्तु नायिका के हावों का विधान बिल्कुल भी नहीं हुआ है।

पहले कहा जा चुका है कि इस सम्पूर्ण कथानक में एक अलौकिक पक्ष है। साधक रत्नसेन पद्मावती रूप ईश्वरीय शक्ति को प्राप्त करने के लिए असह्य दुख सहता है और पुनः उसे प्राप्त करता है। अतः इसमें एक रहस्यात्मकता रही हुई है। सम्पूर्ण कथानक में स्थान-स्थान पर इसके संकेत विद्यमान हैं। यद्यपि कथा का बड़ा भाग और उसके अनेक वर्णन इस रहस्यात्मकता में बाधा डालते हैं परन्तु यहां यह ज्ञातव्य है कि कथा का सर्वांश व्यंजना का साधक नहीं होता। व्यञ्जना तो कुछ अंशों में ही होती है। अतः काव्य की मूल भावना में कोई दोष नही आता। इस महाकाव्य में प्रबन्धकता के नाते इतिवृत्तात्मकता का आना तो अनिवार्य था। प्रेम-काव्य होने के कारण इसमें मानव-समाज का चित्रण एवं उसमें पारस्परिक कर्त्तव्य का विवेचन नहीं है।

प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से इसमें कथा का निर्वाह बड़े सुचारु रूप से हुआ है। आधिकारिक कथावस्तु को लक्ष्य तक पहुँचाने के लिये अनेक प्रासंगिक कथाओं ने बड़ा योग दिया है। सिंहलद्वीप-वर्णन, यात्रावर्णन, युद्ध-वर्णन, विवाह-वर्णन एवं प्रकृतिवर्णन अपने-अपने स्थान पर इस वृहद् अलंकार में रत्न की भांति जड़े हुए हैं।

सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों ही शृंगार-भेदों के चित्रण में भाव-व्यंजना बड़ी मनोरम है परन्तु विप्रलम्भ का पलड़ा सम्भोग से भारी रहा है। संभोग में स्वेद, स्तम्भ एवं रोमाञ्च का वर्णन कहीं नहीं हुआ है। विव्वोक हाव के अतिरिक्त हावों का विधान भी नहीं हुआ है और अनुभावों की योजना भी बहुत कम हुई है। शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों का अंकन बहुत ही कम हुआ है। हास्य का तो प्रायः अभाव ही है। करुण का चित्रण हमें दो प्रसंगों पर मिलता है—एक तो रत्नसेन जब योगी हो कर निकला है और दूसरे जब रत्नसेन देवपाल से युद्ध करता हुआ मारा जाता है। रौद्र की केवल आभा मात्र हमें उस समय दिखाई देती है, जब रत्नसेन अलाउद्दीन का पत्र प्राप्त करता है। वीर रस की व्यंजना अलाउद्दीन की सेना के साथ गोरा-बादल के युद्ध में दृष्टिगोचर होती है। युद्धवर्णन में भीषणता-जन्य भयानक एवं मृत-पिशाचों की वीभत्स क्रियाओं का चित्रण भी हमें मिलता है। अद्भुत औ शान्त भी क्रमशः चमत्कारपूर्ण वर्णन और संसार-निस्सारता के प्रतिपादन में यत्र-तत्र व्यक्त हुए हैं।

इस प्रकार इस काव्य मे नव रसों का विधान हुआ है परन्तु प्र. शृंगार ही है। शृंगार के प्रायः सभी संचारियो एवं वियोग की सभी दशाओं का चित्रण भी हमे मिलता है।

जायसी के पद्मावत मे अलंकारो का विधान भी बड़े सहज और सुन्दर ढंग से हुआ है। जायसी ने उपमामूलक अलंकारों को विशेषतः प्रयुक्त किया है। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक उनके अत्यन्त प्रिय अलंकार है। इनके अतिरिक्त व्यतिरेक, अतिशयोक्ति, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, विभावना, और परिकरांकुर आदि अर्थालंकारो तथा अनुप्रास और पुनरुक्तवदाभास शब्दालंकारों की योजना भी हुई है। इन अलंकारों का एक-एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

तू जस चाँद, सुरुज तोर नाहू। (उपमा)
फूले कुमुद सेत उजियारे। मानहुँ उए गगन महँ तारे॥ (उत्प्रेक्षा)
कंचन रेख कसौटी कसी। जनु घन महँ दामिनि परगसी॥ (उत्प्रेक्षा)
जोवन-जल दिन दिन जस घटा। (रूपक)
का सरवरि तेहि देउँ मयंकू। चाद कलंकी, वह निकलकू॥ (व्यतिरेक)
साम भुअँगिनि रोमावली। नाभिहि निकसि कवल कहँ चली॥
आइ दुवौ नारँग बिच भई। देखि मयूर ठमकि रहि गई॥ (रूपकातिशयोक्ति)
सिंह न जीता लंक सरि, हारि लीन्ह वनवासु।
तेहि रिस मानुस-रकत पिय, खाइ मारि कै मांसु॥ (प्रत्यनीक)
का भा जोग-कथनि के कथे। निकसै घिउ न बिना दधि मथे॥ (दृष्टान्त)
नयन नाहिं पै सब किछु देखा। (विभावना)
रतन चला भा घर अँधियारा (परिकरांकुर)
कुररहिं सारस करहिं हुलासा (अनुप्रास)
साखी ठाड देहि सब साखी॥ (पुनरुक्तवदाभास)

पद्मावत से ज्ञात होता है कि जायसी को पिगल का ज्ञान अच्छा नही था क्योकि उन्होने केवल दो ही चौपाई और दोहा नामक छन्दों का उपयोग किया है और ये दोनो ही छन्द छोटे और सरल होते हैं परन्तु उन्होंने अनेक स्थलों पर इनका भी निर्वहण ठीक-ठीक रूप मे नहीं किया है। क्योकि कहीं मात्रा न्यून हो गई है और कही अधिक, यथा—

सोइ चाँद अस निरमल, जनम न होइ मलीन।

* *

अस्टौ कुरी नाग सब, अरुझ केस के बाँद।

इन दोनों ही दोहार्धों के पूर्वार्ध में बारह मात्राएँ हैं जब कि १३ होनी चाहिएँ।

जनु लेनिहार न लेहिं जिउ, हरहिं तरासहिं ताहि।

इस पंक्ति पूर्व चरण में चौदह मात्राएँ है जो नियम-विरुद्ध है।

इसी प्रकार चौपाई के प्रति चरण में सोलह मात्राएँ होनी चाहिएँ परन्तु निम्न पंक्तियों में १७ मात्राएँ हैं—

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।

*

चतुरवेद मत सब ओहि पाहा।

* *

एक एक बोल अरथ चौगुना।

हाँ, उन्हें इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, पशु-विद्या, भोज्य-पदार्थ एवं विवाहाचार आदि का बड़ा विशद और विशाल ज्ञान था। पद्मावत का कथानक उनके इतिहास-ज्ञान का परिचायक है। उसमें जो अनैतिहासिकता है वह तो कवि की मौलिक उद्भावना है और वह भी इसलिए कि अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कथानक का यथेष्ट विस्तार हो सके। रत्नसेन ने सिंहल-द्वीप की जो यात्रा की है उससे कवि के भूगोल-ज्ञान का परिचय मिलता है। उन्होंने यात्रामार्ग से बीदर को दाहिनी ओर चँदेरी को बाईं दिशा में लिखा है जो ठीक है। यहाँ से वे रतनसेन को विजयगढ़ पहुँचा कर अँधियार खटोला (होशंगाबाद) को उत्तर की ओर छुड़वाते हुए गोंडवाने में ले जाते हैं। तत्पश्चात् तिलंगाना देश को दाहिनी ओर गढ़-कंटक को बाईं ओर छुड़वाते हुए छिदवाड़ा तथा रतनपुर पहुँचा कर झारखंड के नीचे उड़ीसा में पहुँचाते हैं और वहाँ से दक्षिण की ओर मुड़वा कर कलिंग के समुद्र तट पर ले जाते हैं। यह विवरण ठीक ही है।

पद्मावत में शकुन-विचार से, अश्व-भेद के विवरण से और विवाह में भोजनों की तालिका से जान पड़ता है कि जायसी को ज्योतिष का, पशुओं का और भोज्य पदार्थों का ज्ञान कितना समृद्ध रूप में था। उन्हें मुस्लिम धर्म और सूफी मत का ज्ञान तो था ही, साथ ही हिन्दू पुराणों और हिन्दू-आचारों का भी ज्ञान अधिक था। यह बात पद्मावत में आए पौराणिक प्रसंगों, दैविक क्रियाओं और विवाह आदि में प्रयुक्त आचारों से भली भाँति ज्ञात हो जाती हैं

पद्मावत का पर्यालोचन हमें बतलाता है कि वे संस्कृत के पण्डित नहीं थे परन्तु उन्हें संस्कृत से एवं संस्कृत के ग्रन्थों से कुछ परिचय अवश्य था। कई संस्कृत के श्लोकों का भाव हमें ज्यों का त्यों पद्मावत में मिलता है, यथा—

चाणक्य नीति— शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र, चंदनं न वने वने॥

पद्मावत— थल थल नगन होहिं जेहि जोती। जल जल सीप न उपनहिं मोती ॥
वन वन बिरिछ न चन्दन होई। तन तन विरह न उपनै सोई ॥

उपर्युक्त श्लोक के तीन तथ्य हमे उसी रूप में इस चौपाई में मिलते है। इसी प्रकार—

एक सूक्ति— रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्री।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त! हन्त! नलिनी गज उज्जहार ॥

पदमावत— भवँर जो पावा कुँवल कहँ, मन चीता बहु केलि।
आइ परा कोइ हस्ति तहँ, चूर किएउ सो बेलि ॥

श्लोक के तृतीय और चतुर्थ पाद का भाव ज्यों का त्यों हमें उत्तरार्ध में दीख रहा है।

पद्मावत की भाषा ठेठ अवधी है। तुलसीदास ने रामचरित मानस में जिस अवधी का प्रयोग किया है वह पाण्डित्यपूर्ण है क्योंकि उसमे संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्दों की भरमार है। अतः वह उसका सहज रूप नहीं परन्तु पद्मावत में जिस अवधी का प्रयोग हुआ है वह कृत्रिम रूप नही है। इसमें अवधी के कई तुइँ (तू) आदि पश्चिमी रूप मिलते हैं जो कुछ अखरते हैं परन्तु उनका मेल उचित ढंग से किया गया है।

कहीं-कहीं किसी अन्य भाषा का शब्द भी तद्भव रूप में प्रयुक्त हो गया है। यथा ब्रज और बँगला के कुछ शब्द हमें मिलते हैं। उदाहरणार्थ ब्रज का 'हतो' शब्द पद्मावत में 'था' के ही अर्थ में निम्न रूप में प्रयुक्त हुआ है—

गगन हुता नहि महि हुती, हुते चन्द नहिं सूर।

बँगला की 'पार' एवं 'आछ' धातुओं के रूप हमें क्रमशः 'सकना' और 'होना' के ही अर्थ में मिलते हैं, जैसे—

परी नाथ कोइ छुवै न पारा।

*   *

दादुर बास न पावई, भलहि जो आछै पास ॥

पद्मावत में लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी हुआ है परन्तु कम। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते है—

सूधी अँगुरि न निकसै घीऊ।
दिपै लिलारा।
दिय फटा।

किसी-किसी स्थान पर लिंग सम्बन्धी अशुद्धियां भी मिलती हैं, जैसे—

दसन देखि कै बीजु लजाना। ('लजानी' चाहिए)

सूरदास

हिन्दी साहित्य-निधि के अमूल्य रत्न महाकवि सूरदास कृष्णभक्त कवियों में अद्वितीय रहे हैं। कोई उन्हें [illegible] का [illegible] सूर्य कहता है तो कोई शान्त और शीतल शशि। यह तो विद्वानों की निकष का विषय है परन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि ऐसे अप्रतिम प्रतिभाशाली कवि के विषय में निश्चित रूप से 'इदमित्थं' कहना कठिन है। सूरदास ने अपने विषय में थोड़ा ही लिखा है, वह भी संकेत रूप में। अतः हमें उनके जीवनवृत्त के विषय में अधिकांशतः अन्य व्यक्तियों के ग्रन्थों पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

अन्तःसाक्ष्य—सूरकृत हमें तीन रचनाएँ मिलती हैं—सूरसागर, सूरसारावली और साहित्यलहरी।

साहित्यलहरी में इन्होंने अपनी वंश परम्परा निम्न रूप से दी है—

ब्रह्मराव जगात अथवा प्रथा जगात

अन्तिम सूरजचन्द ही सूरदास हैं। यद्यपि साहित्यलहरी की प्रामाणिकता में कुछ लोगों को सन्देह है तथापि इससे सूर की वंशावली पर प्रकाश तो पड़ता ही है।

साहित्यलहरी के रचनाकाल के सम्बन्ध में सूर का निम्न पद मिलता है—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनन्द को लिखि सुबल संवत् पेख

यहाँ पर मुनि से तात्पर्य ७, रसन से ०, रस से ६ और गोविनन्द से १ है। संवत् संख्या बनाते समय अंकविपर्यय हो जाता है। अतः साहित्यलहरी का निर्माणकाल सं० १६०७ हुआ।

सूरसारावली के अनुसार सूरदास की आयु उस समय ६७ वर्ष की थी—

गुरु प्रसाद होत यह दरसन सरसठि बरस प्रवीन।

साहित्यलहरी से हमे यह विदित होता है कि श्री वल्लभाचार्य सूरदास के गुरु थे—

श्री गुरु वल्लभ तत्व सुनायो लीला भेद बतायो।

सूरसागर मे कोई निश्चित बात नही लिखी है। कुछ विनय के पदों से उनके जीवन सम्बन्धी निम्न फलित निकाले जा सकते है—

(१) सूरदास अन्धे थे परन्तु उनके जन्मान्ध होने का कोई दृढ़ प्रमाण नही मिलता।

(२) वे ब्रज मे यमुना-किनारे रहा करते थे। तदनन्तर कीर्त्तन भी करने लगे थे।

(३) वे अत्यन्त निर्धन थे। अतः आरम्भ में उनकी आजीविका का साधन मधुकरी ही था।

(४) सूरदास ने बिट्ठलनाथ का सत्संग किया था क्योंकि बिट्ठलनाथ स्थायी रूप से ब्रज मे रहते थे।

(५) ये राधाकृष्ण के परम भक्त थे। अतः उनके सम्बन्ध से गोकुल, बृन्दाबन, मथुरा, गोप, गोपी, यमुना, कुञ्ज आदि सभी से अनुराग रखते थे।

कविकृत उपर्युक्त पुस्तको के अतिरिक्त कुछ अन्य पुस्तकें ऐसो भी है जिनसे उनके जीवन पर प्रकाश पड़ता है।

बहिःसाक्ष्य—चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता के अनुसार सूरदास सर्व-प्रथम गऊघाट पर रहते थे। वही बल्लभाचार्य जी ने इनका कीर्त्तन सुना और प्रसन्न हो अपना शिष्य बनाया। बल्लभाचार्य जी उस समय गद्दी पर विराजमान होने लगे थे। इन्ही के कहने से सूरदास गऊघाट को छोड़कर गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी के मन्दिर मे कीर्त्तन करने लगे थे।

श्री हरिरायकृत चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता की टीका 'भाव प्रकाश' में सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण, जन्मान्ध एवं सीही ग्रामवासी लिखा है।

श्री बिट्ठलनाथ के पुत्र यदुनाथ द्वारा सं० १६५८ मे विरचित 'श्री बल्लभ दिग्विजय' नामक ग्रन्थ में इन्हे सारस्वत ब्राह्मण ही बतलाया है।

शेख अबुलफजल ने 'आइन अकबरी' में (सं० १६५३) सूरदास को अकबर के संगीतज्ञों में लिखा है। उन संगीतज्ञों में उनका संख्याक्रम उन्नीसवाँ था और रामदास का दूसरा।

मुंतखबुत्तवारीख मे भी अकबर के दरबारी संगीतज्ञों में सूरदास का नाम आता है परन्तु उसे रामदास का पुत्र बतलाया है।

अन्तःसाक्ष्य के अतिरिक्त उपरिलिखित बहिःसाक्ष्य में कुछ जनश्रुतियाँ भी सम्मिलित की जा सकती हैं जो सूरदास के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में प्रचलित रही हैं। सबसे बड़ी जनश्रुति इनके अन्धे होने के सम्बन्ध में है।

एक वर्ग का कहना है कि वे जन्मान्ध थे। अपने छः भाइयों के मुसलमानों के साथ युद्ध में मारे जाने पर घर से निकल पड़े और मार्गदर्शन न होने से एक निर्जल कूप में जा गिरे। भक्त तो थे ही, ईश्वर से लौ लगा दी। भक्त का दुख-मोचन करने भक्त-मनमोहन सहसा वहाँ आविर्भूत हुए और सूरदास को उस अन्धकूप से बाहर निकाल कर नेत्रज्योति प्रदान की। सूरदास ने अपनें प्रभु को पहचान लिया और वर माँगा कि प्रभो ! जिन आँखों से आपके दर्शन किये हैं उनसे मैं और सांसारिक पदार्थों को नहीं देखना चाहता। अतः मुझे पूर्वावस्था में ही रहने दीजिए। कहते हैं कि भगवान् ने भक्त की आन्तरिक भावना को समझ कर तथास्तु कहा और अन्तर्धान हो गए। सूरदास पुनः अन्धावस्था को प्राप्त हो भगवद्भक्ति में लीन हो कर विचरण करने लगे।

एक दूसरी किंवदन्ती के अनुसार वे जन्मान्ध नहीं थे वरन् एक बार वे एक सुन्दरी पर आसक्त हो गए थे। परन्तु जब इन्हें बोध हुआ तो बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसी के परिणामस्वरूप इन्होंने अपने नेत्र फोड़ लिए।

फलित—उपर्युक्त अन्तःसाक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्य के आधार पर हम निम्न फलित निकाल सकते हैं—

समय—चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता के अनुसार गऊघाट पर जब बल्लभाचार्य जी से इनकी भेंट हुई थी तब स्वामी जी गद्दी पर विराजमान होने लगे थे। बल्लभ सम्प्रदाय में विवाहोपरान्त ही गद्दी पर बैठते हैं। इससे सिद्ध होता है कि स्वामीजी उस समय विवाहित हो चुके थे और इनका विवाह सं० १५६१ में हुआ था। अतः सूरदास से मिलना सं० १५६१ के पश्चात् ही सं० १५६५ के लगभग हुआ होगा। उस समय सूरदास संन्यासावस्था में रहते थे और उनके शिष्य भी थे। यदि उस समय सूरदास की आयु तीस वर्ष के लगभग भी मानें तो उनका जन्मकाल सं० १५३५ के सन्निकट

बैठता है। बल्लभ सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता है कि सूरदास बल्लभाचार्य से दस दिन छोटे थे और बल्लभाचार्यजी का जन्म सं० १५३५ की बैशाख कृष्णा एकादशी को हुआ था। अतः सूरदास की जन्म-तिथि बैशाख कृष्णा पञ्चमी सं० १५३५ हुई, जो उचित जान पड़ती है।

सूरसागर में गोस्वामी बिट्ठलनाथ का स्थान ही ब्रजवास लिखा है। स्वामीजी का स्थायी ब्रजवास सं० १६२८ तक हुआ किन्तु उनका निधन मूलवार्त्ता के अनुसार सं० १६४२ पूर्व हुआ। परन्तु यह निश्चित नहीं कि कब हुआ। अतः हम इस परिणाम पर आते हैं कि सूरदास की मृत्यु सं० १६२८ के पश्चात् और सं० १६४२ से पूर्व ही हुई।

स्थान—गोस्वामी हरिराय ने इन्हें सीही ग्रामवासी लिखा है। किन्तु जब बल्लभाचार्य जी से इनकी भेंट हुई उस समय ये आगरा और मथुरा के बीच गऊघाट पर रहते थे। स्वामीजी की शिष्यता ग्रहण करने के पश्चात् उन्ही के आदेश से ये गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथ के मन्दिर में रहने लगे थे। परन्तु इनकी मृत्यु पारसोली ग्राम में हुई। उस समय श्री बिट्ठलनाथ जी भी वहाँ विद्यमान् थे।

वंश एवं जाति—मुंतखबुत्तवारीख मे इनके पिता का नाम रामदास लिखा है जो अकबर के संगीतज्ञों में था। आइनेअकबरी मे भी अकबर के संगीतज्ञों में रामदास का नाम आता है। हाँ ग्रियर्सन ने साहित्यलहरी के उस पद के आधार पर जिसमें सूर ने अपनी वंशावली लिखी है, सूर के पिता का नाम रामचन्द्र लिखा है। मिश्रबन्धुओं ने उस पद को प्रक्षिप्त माना है। यदि हम प्रक्षिप्त न भी मानें तो भी उसमे सूर के पिता का नाम निर्दिष्ट नहीं है।

साहित्यलहरी के अनुसार ये ब्रह्मभट्ट थे परन्तु गोस्वामी हरिराय और गोस्वामी यदुनाथ दोनों ने ही इन्हें सारस्वत ब्राह्मण लिखा है। साहित्यलहरी का पद संदेहास्पद होने से उनका सारस्वत ब्राह्मण होना ही ठीक जान पड़ता है।

नेत्रहीनता—इनके ग्रन्थों में कहीं भी ऐसा नहीं मिलता कि वे बाल्य-काल में चक्षुहीन न थे वरन् इसके विपरीत इन्होंने अपने को अन्धा अनेक स्थलों पर लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि ये जन्मान्ध थे। गोस्वामी हरिराय ने भी इन्हें जन्मान्ध लिखा है। इस प्रश्न का उत्तर कि उन्होंने जन्मान्ध होते हुए राधा-कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का सजीव चित्रण कैसे किया ? यही दिया जा सकता है कि उन्होंने अन्य सन्तों से अनेक बार और अनेक

प्रकार से उनके रूप-सौन्दर्य का वर्णन सुना होगा। एक मनोवैज्ञानिक सत्य भी है कि मनुष्य जन्मान्ध ही क्यों न हो वह मानव-सौन्दर्य से भली भाँति परिचित होता है। क्योंकि यह उसकी प्रकृति से सम्बन्ध रखता है। यदि यह कहा जाए कि उसे वह सौन्दर्य नाना रूप मे अन्तश्चक्षुओं से दीखता भी है तो अनुचित न होगा। यही बात कृष्ण की बाललीला के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। क्योंकि वाल्यावस्था भी मानव-जीवन का अंग है।

रचनाएँ—नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित पुस्तकों की विवरण तालिका में सूरदास के १६ ग्रन्थों का उल्लेख है, जिनमें सूरसागर, सूरसारावली, साहित्यलहरी के अतिरिक्त दशमस्कन्ध टीका, नागलीला, भागवत, गोवर्द्धन लीला बड़ी, सूरपचीसी, सूरसागर सार, प्राणप्यारी, सूरदासजी के दृष्टकूट, सूरदासजी के पद तथा नलदमयन्ती आदि ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इनमें से 'प्राणप्यारी' एवं 'नलदमयन्ती' आदि सूरदासकृत ग्रन्थ प्रतीत नही होते तथा अवशिष्ट नामावली में भी कुछ सूरसागर के ही अंश है। उनमें भी बहुत कुछ अंश कल्पित है। आज निश्चित रूप से सूरदास निर्मित तीन ही ग्रन्थ कहे जा सकते हैं—सूरदास, सूरसारावली और साहित्यलहरी।

सूरदास के प्रकाशित इन तीनों ग्रन्थों में भी हम सूर सारावली और सूरसागर में कथा-प्रसंग के दृष्टिकोण से कुछ अन्तर देखते हैं। सूरसारावली मे संयोगलीला, बसंत, हिंडोला एवं होली का वर्णन कृष्ण के कुरुक्षेत्र से लौटने के पश्चात् किया गया है, जो सूरसागर से भिन्न है। अतः कुछ का विचार है कि यह ग्रन्थ सूरकृत नहीं। परन्तु ऐसा नहीं है। ये बहुश्रुत न होते हुए भी अनेक कृष्णभक्तों के समागम से बहुज्ञ हो गए थे। अतः सम्भव है कि कथा में अन्तर आ गया हो। भाषा एवं शैली से यह ग्रन्थ सूर का ही जान पड़ता है।

साहित्यलहरी में कुछ पद सूरसागर के हैं और कुछ दृष्टकूट हैं। अनेक पद नायिकाभेद, अलंकार एवं रसों के उदाहरण जैसे प्रतीत होते हैं। ज्ञात होता है कि सूरदास का पाण्डित्य मुखर हो उठा था। अतः उन्होंने इसका उद्गार दृष्टिकूटों के रूप में किया। सम्भवतः इसी अभिरुचि ने उन्हें रीति-परम्परा की ओर प्रेरित किया हो। कतिपय व्यक्तियों को इस ग्रन्थ की सर्वांशतः प्रामाणिकता में सन्देह है। उनका कथन है कि इसके अनेक पद प्रक्षिप्त हैं। यथा वंशावली का पद। हमे यह कथन भी इष्ट नहीं क्योंकि म० म० हरप्रसाद शास्त्री को चन्द के वंशज नानूराम भाट से उसकी जो वंशावली मिली है, उससे सूरलिखित अपनी वंशपरम्परा मिलती है। क्योंकि सूर भी इसी वंश से सम्बन्ध रखते थे।

सूरसागर – इनका तीसरा महान् ग्रन्थ सूरसागर है। यह भागवत का अनुवाद न होते हुए भी उसकी कथा के आधार पर निर्मित हुआ है। क्योंकि भागवत की भाँति यह भी द्वादश स्कंधों में विभक्त है। सूरसागर के प्रथम नौ अध्याय बहुत ही सूक्ष्मतः लिखे गए हैं। दशम स्कन्ध का विस्तार अधिक हो गया है। इसके पूर्वार्द्ध मे ही लगभग ४००० पद है जो अन्य स्कन्धों के पद-जोड़ से लगभग आठ गुने है। सूरसागर और भागवत मे कुछ तान्त्विक अन्तर भी है। भागवत में दार्शनिक विचारों का प्राधान्य है, जिनमें भक्ति का समावेश तो है ही साथ ही ज्ञान और कर्म को भी महत्व दिया गया है। सूरसागर मे भक्ति का ही प्राधान्य है। सूरदास वैष्णव होते हुए भी वर्ण-व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मणादि का महत्व स्वीकार नहीं करते परन्तु भागवत इनकी महत्ता पर बल देता है।

सूरदास ने सूरसागर की कथा के अनेक प्रसंगों को भागवत कथा पर ही आश्रित किया है, यथा यमलार्जुन-नागमुक्ति, कालियदमन, गोवर्द्धनलीला, रासलीला, उद्धव-गोपी संवाद और उसमे भ्रमरगीत एवं चीर-हरण आदि ऐसे ही प्रसंग है जिनका मूलसार भागवत मे है परन्तु सूर ने अपनी मौलिकता को सर्वत्र अक्षुण्ण रक्खा है। इनके अतिरिक्त राधाकृष्ण का सहसा मिलना, पुनः अनुरक्ति के पश्चात् प्रेम का आदान-प्रदान जिसमें दानलीला, रासलीला में राधा की प्रेमलीला, राधा का खण्डिता रूप धारण कर मान करना, हिंडोला और फाग आदि प्रसंग तो नितान्त मौलिक है।

सूरदास ने राधा का जो सुन्दर चित्र खींचा है वह बड़ा मनोहारी है। भागवत में राधा का नाम तक नहीं। महाभारत में भी उसका उल्लेख नहीं है। भागवत के आधार पर निर्मित हुए 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र' एवं 'नारद-भक्ति सूत्र' में भी राधा का नामोल्लेख नहीं हुआ है। ब्रह्म सम्प्रदाय के प्रवर्तक मध्वाचार्य ने भी राधा का नाम नही लिया वरन् उन्होंने लक्ष्मी को ही इष्ट माना है। भागवत मे एक प्रसंग है जिसमें कुछ गोपियां कृष्ण की एक परम कृपापात्र गोपी की प्रशंसा करती हुई कहती है कि उसने किसी पूर्व जन्म मेआराधना की होगी। कुछ लोग आराधना शब्द में 'राध्' धातु से राधा का नाम निकला मानते है। परन्तु वास्तव में यह एक कोरी कल्पना है। राधा का सर्वप्रथम नाम 'गोपाल तापनी उपनिषद्' में मिलता है। शुद्धाद्वैत के प्रचारक विष्णुस्वामी ने राधा की महत्ता को स्वीकार किया। बल्लभाचार्य जी ने जिस पुष्टि मार्ग का प्रवर्तन किया था उसका आधार शुद्धाद्वैत ही था। अतः बल्लभाचार्य ने राधाचरित्र को विष्णुस्वामी से ग्रहण किया। सूरदास बल्लभाचार्य के शिष्य थे। अतः सूर की राधा का आधार बल्लभ स्वामी का पुष्टिमार्ग

है। परन्तु सूर के दार्शनिक सिद्धान्तों में राधा की जो प्रतिष्ठा हुई वह बल्लभ स्वामी द्वारा नहीं हुई थी।

हिन्दी में कृष्णकाव्य विद्यापति से प्रारम्भ होता है जिस पर गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव का प्रभाव था। परन्तु सूर ने राधा का चित्रण उनके आधार पर नहीं किया। विद्यापति कथा का प्रारम्भ राधा की वयःसन्धि से करते है जबकि सूर बाल्यकाल से। वास्तव में विद्यापति की राधा तो कृष्ण की प्रेयसी है। चण्डीदास ने तो उसे परकीया ही बना दिया है। सूर राधाकृष्ण का प्रेम बाल्यकाल से ही उद्भूत कराते हैं जो यौवन पाकर अनुराग में परिणत हो जाता ह। सूर की राधा कृष्ण की मनभावनी सहचरी है जो पावनी पत्नी के रूप में चित्रित हुई है। यद्यपि सूर के संयोग-चित्रण मे जल-विहार, हिंडोला, फाग, होली, बसन्त एवं सुख आदि प्रसंग गीतगोविन्द से कुछ साम्य रखते हैं परन्तु सूर ने मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया है। दूसरे एक बात और भी है कि उन्होंने अध्यात्म को विस्मृत नहीं किया है। अतः शृंगार होते हुए भी भक्त की वाणी कलुषित नहीं होने पाई है। सूर ने कहीं भी राधा को नायिका और कृष्ण को नायक के रूप में चित्रित नहीं किया है। सूरसागर के अन्त में वे राधा को अन्य गोपियों के साथ श्रुति का अवतार कहते हैं, जो कृष्णरूप ब्रह्म के साथ विहार करने के लिए मानुषी रूप मे अवतरित हुई। इस प्रकार अध्यात्म मे वे रहस्य की ओर भी संकेत करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। यही कारण है कि उनका शृंगार-वर्णन रहस्यपूर्ण है।

सूरसागर मे दो प्रसंग बड़े महत्वपूर्ण हैं जिन्होंने सूर को अमर बना दिया है। एक तो कृष्ण की बाललीला, दूसरा भ्रमरगीत।

कृष्ण की बाललीला का चित्रण करते हुए सूर ने वात्सल्य का जैसा निरूपण किया है वह अनुपमेय है। विश्वसाहित्य मे बालचेष्टाओं का इतना सुन्दर निरूपण अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। बालक्रीड़ा में घुटनों के बल चलना, रेंगना, गिरना, पुनः उठना, विविध वस्तुओं का मांगना, तन्निमित्त आग्रह करना, तुतलाना, चापल्य दिखाना, युवावस्था में विविध चेष्टाएँ करना और इनको देख-देखकर माता-पिता का हर्षित होना, बलि जाना, नजर के डरसे टोने-टकोने करना आदि बाते बड़ी मनमोहक हैं। पुनः कुछ बड़े होकर खीजना-रीझना, भोली बातें करना, माखन-दधि चुराना और पकड़े जाने पर ऋजुता-पूर्ण उत्तर देना जिन्हें सुन मां-बाप का रोष छोड़ बलैया लेना आदि अनेक प्रसंग वात्सल्य के निरूपण में अद्वितीय हैं। ऐसे प्रसंगों को पढ़ते-पढ़ते वे चित्र भी आँखों के समक्ष नाचते-से दीख पड़ते है। यह सूर की अनुपम शैली की

एक विशेषता है। वास्तव में सूर वात्सल्य के अवतार थे। विश्व की किसी भी भाषा के साहित्य में यदि कही बाल-क्रीड़ा एवं वात्सल्यता का चित्रण मिले तो वह सूर का उच्छिष्ट-सा प्रतीत होगा और बलात् मुख से निकल जाएगा कि ऐसा वर्णन तो सूर ने किया है।

सूर का भ्रमरगीत तो अनुपम है। सर्वप्रथम हमें भ्रमरगीत भागवत में मिलता है, जिसमें कृष्ण द्वारा प्रेषित महामना उद्धव अपने ज्ञानमान सहित गोपियों के पास जाकर उन्हें ज्ञानोपदेश देते हैं, परन्तु वहाँ सहसा एक भ्रमर के आ जाने पर गोपियाँ सोपालम्भ उद्धव से लौट जाने की प्रार्थना करती हैं। उद्धव उन्हे समझाते है और गोपियाँ अंत में विनीत भाव से उनका उपदेश अंगीकृत कर लेती है। सूर की गोपियाँ इतनी विनम्र नही हैं। वे उद्धव से शास्त्रार्थ करती हैं और ऊहापोह में उद्धवकृत प्रत्यूह को सहन नहीं करतीं। अतः रह-रह कर उसका उपहास भी करती हैं। ज्ञात होता है कि वे कृष्ण के अनुराग मे इतनी निमग्न है कि उनके लिये वंशमर्यादा, गुरुजनप्रतिष्ठा एवं ज्ञानोपदेश कोई मूल्य नही रखता। अतएव वे मुखर है। भागवत की गोपियाँ ईर्ष्या से जल रही हैं। अतः वे कहती हैं कि हमें वह कृष्ण नही चाहिए जो मथुरा मे अनेक स्त्रियों के साथ विहार करता है। सूरसागर की गोपियाँ एक बार भी ऐसा नही कहतीं। भागवत की गोपियाँ विरह से दग्ध तो है पर ईर्ष्यावश इतनी अभिन्न नही। भागवत मे भक्ति के साथ ज्ञान का भी महत्व है। जब कि सूर को भक्ति अधिक प्रिय है और भक्ति भी प्रेमलक्षणा। वास्तव मे सूर को निर्गुण के विपरीत सगुण की स्थापना करनी थी। उद्धव उन्हे ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप बतलाते हुए ज्ञान-ध्यान पर बल देते है और कृष्ण की मञ्जुल चित्ताकर्षक आकृति को भूल जाने की प्रार्थना करते हैं परन्तु श्याम-रागानुरञ्जिता गोपिकाएँ निराधार ज्ञानप्रकाश की शुक्लता से लुभाती नहीं वरन् द्विगुणित उत्साह से उद्धव से तर्क-वितर्क करती हैं। अन्त मे उद्धव मुँह की खाकर अपनी ज्ञान-पोटली को समेट लेते हैं और कृष्ण के पास गोपियों की गाढ़ानुरक्ति की प्रशंसा करते हैं तथा उन्हें दर्शन देने का अनुरोध करते है। सूरदास ने स्वयं लिखा भी है कि मैंने सगुण की स्थापना के लिए ये पद गाए है। यही कारण है कि सूर ने उद्धव का ज्ञानमान मर्दित कराने के लिए ही कृष्ण द्वारा उन्हें गोपियों के पास भिजवाया है जब कि भागवत मे उद्धव वास्तव मे ज्ञानगरिमा गाने के लिए ही भेजे गए हैं।

भ्रमरगीत में अन्य गोपियों के साथ राधा का वर्णन सूर की अपनी देन है। भ्रमरगीत विरहकाव्य है। इसमें विरह की सभी दशाओं का बड़ा सुन्दर चित्रण है। सूर ने सैकड़ों पदों में गोपियों की विरह दशाओं का वर्णन करते

हुए उन में सगुण की स्थापनार्थ पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है और उसके द्वारा निर्गुण-आराधन का उपहास किया है। इससे विदित होता है कि सूर से पूर्व निर्गुण के गुणगायक पर्याप्त मात्रा में कह चुके थे, जो सूर को सह्य न हुआ।

सूर के भ्रमरगीत के पश्चात् एक परम्परा ही चल गई। सूर की इस शैली का ऐसा प्रभाव पड़ा कि भक्ति, रीति एवं आधुनिक काल के अनेकानेक कवि इस प्रसंग को किसी न किसी रूप में लाने का लोभ संवृत न कर सके।

कृष्णभक्त कवि नन्ददास ने भी भ्रमरगीत लिखा। उन्होंने उद्धव को भेजने का कारण नहीं लिखा। उद्धव एक बड़े कुशल पण्डित है। प्रथम वे गोपियों की प्रशंसा करते हैं पुनः ज्ञानोपदेश देते हैं। परन्तु गोपियाँ एक नहीं सुनती और डटकर उत्तर देती जाती है। नन्ददास की गोपियाँ सूरदास की गोपियों की भाँति चपल नही है और न निरी अबोध। उनके तर्क अधिक गम्भीर एवं दार्शनिकतापूर्ण है। गोपी-उद्धव संवाद मे जो वार्त्तालाप की सरणी दीख पड़ती है वह नन्ददास की मौलिकता है।

महाकवि तुलसीदास ने भी भ्रमरगीत लिखा। उन्होंने उद्धव के लिए मधुकर शब्द का प्रयोग कराया है। इनकी गोपियाँ बड़ी सरल है। न वे इतना तर्क करती हैं और न मुखरता प्रदर्शित करती हैं। उनमें संकोच अधिक है। अतः विरह-वर्णन शिथिल हो गया है।

भक्तिकाल के पश्चात् रीतिकाल में भी यह परम्परा चलती रही। परन्तु यहाँ सगुण एवं निर्गुण के चक्कर में पड़कर भ्रमरगीत नहीं लिखे गये। यहाँ तो कृष्ण और राधा का रूप ही नायक और नायिका के रूप में गृहीत हुआ है। अतः प्रसंगवश भ्रमर के प्रति कहा गया है।

रीतिकाल से पूर्व भक्तिकाल के फुटकर रचनाकारों में रहीम ने भी भ्रमरगीत लिखा था। इसकी गोपियाँ निपट मुग्धा हैं, जिनके हृदय का तारल्य बड़ा मनमोहक है।

रीतिकाल में सर्वप्रथम भ्रमरगीत के कुछ कवित्त हमें मतिराम की रचना में मिलते हैं, जो अलंकारों के उदाहरणरूप में दिये गये है। यही कारण है कि वहाँ भ्रमरगीत का क्रमिक विकास नहीं हो पाया है। देव कवि ने भी भ्रमरगीत का प्रसंग इसी पद्धति से लिखा है।

इनके अतिरिक्त घनानन्द, पद्माकर एवं सेनापति आदि कवियों ने भी भ्रमरगीत अलंकारों के उदाहरण रूप में ही लिखा परन्तु संकेततः पद्माकर ने तो मधुकर शब्द का भी प्रयोग नहीं किया।

आधुनिक काल भी इस प्रवृत्ति से अछूता न बचा। स्वयं भारतेन्दु बाबू ने पद्माकर के ढंग पर इस सम्बन्ध में कुछ स्फुट पद लिखे। सत्यनारायण कविरत्न ने भ्रमरदूत लिखा। यहाँ न गोपियाँ है और न उद्धव, वरन् यशोदा भ्रमर को दूत बना कर भेजती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये कालिदास के मेघदूत से प्रभावित थे। अतः भ्रमरगीत में मौलिकता लाने के लिए उन्होंने ऐसा किया।

अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी इस प्रसंग को लिखा है। इनकी राधा बड़ी पावनी मानवी के रूप में चित्रित हुई है। अन्य गोपियाँ भी बड़े संयत भाव से बोलती हैं। वे विरह से दग्ध होती हुई मर्यादा का उल्लंघन नहीं करतीं। उपाध्याय जी ने भ्रमर के स्थान पर पिकी को भिजवाया है।

गुप्तजी ने भी द्वापर काव्य में इस प्रसंग को लिया है। इनके उद्धव एवं गोपियाँ वाचाल हैं, जो राधा की ओर से बातें करती हैं। राधा तो अन्त में आती है। गुप्तजी ने भ्रमर के स्थान पर विहंग को भेजा है।

जगन्नाथ दास रत्नाकर नें इस सम्बन्ध मे उद्धवशतक की रचना की। यह ग्रन्थ अलंकारों की सुगूढ़ प्रदर्शिनी है। अतः इस पर रीतिपरम्परा का प्रभाव स्पष्ट है। इसमें भ्रमरगीत का क्रमिक विकास दीख पड़ता है यद्यपि भ्रमर का प्रवेश नहीं कराया गया है।

इस प्रकार हम देखते है कि सूरदास ने जिस पद्धति को हिन्दी मे प्रयुक्त किया वह किसी न किसी रूप में आज तक चली आई। यद्यपि यह सरणी सर्वप्रथम संस्कृत के भागवत ग्रन्थ में दीख पड़ी परन्तु हिन्दी में सर्वप्रथम सूर ने ही व्यवहृत की। अतः हिन्दी के अन्य कवियों पर उनके भ्रमरगीत का कुछ न कुछ और किसी न किसी रूप मे प्रभाव है, यह मानना पड़ेगा।

सूरसागर और शृंगार—सूरसागर में शृंगार का पूरा विकास नहीं हुआ है। राधा एवं उसकी सखियों के रूप-सौन्दर्य का वर्णन है परन्तु वे आलम्बन नहीं बन सकी है। सूर के कृष्ण शुद्धाद्वैत के आधार पर चित्रित हुए हैं। अतः वे राधा आदि गोपियों पर मुग्ध होते हुए भी लिप्त नहीं। गोपियाँ अवश्य उनके प्रेम में निमग्न है। जहाँ हम गोपियों की संयोग और वियोग से उद्भूत अनेक दशाओं का सुन्दर चित्रण पाते है, वहाँ कृष्ण की उत्कट उत्कण्ठा का कही भी आभास नहीं मिलता। अतः वे कही भी विरहोत्कण्ठित दृष्टिगोचर नही होते।

इनसे पूर्व विद्यापति राधाकृष्ण सम्बन्धी शृंगार का वर्णन कर चुके थे परन्तु सूर ने अपने शृंगार को उस पर आधारित नहीं किया है। सूर ने

राधाकृष्ण के प्रेम को क्रमशः विकसित किया है। विद्यापति की कथा का आरम्भ वयःसन्धि से होता है जबकि सूर बाल्यकाल से ही प्रेम कराते हैं जो स्वाभाविक रूप से परिवर्द्धित होता हुआ दाम्पत्य राग में परिणत हो जाता है। अतः सूर की राधा पवित्र पत्नी के रूप में चित्रित हुई है। विद्यापति की भाँति इन्होंने नायिका भेद का ध्यान रखते हुए राधा को नायिका के विविध रूपों में वर्णित नहीं किया। यद्यपि कई स्थलों पर राधा के वर्णन में नायिकाभेद आगया है परन्तु वह केवल प्रसंगवश ही है।

सूर ने शृंगार के दोनों पक्ष संयोग और वियोग का चित्रण किया है। राधाकृष्ण के सहज प्रेम की परिवृद्धि से संयोग शृंगार का श्रीगणेश हुआ। पुनः जलक्रीड़ा, कुञ्जविहार, रासलीला, दानलीला, फाग, होली, बसन्त आदि प्रसंग इसी के अन्तर्गत हैं। सूर ने गाढ़ालिंगन एवं विपरीत रति का भी वर्णन किया है। कई विद्वान् इन प्रसंगों के कारण भक्त सूर पर यह लांछन लगाते हैं कि सूर शृंगारी हो गए हैं। परन्तु ऐसा नही है, ऐसे स्थलों पर सूर जयदेव का अनुसरण करते हुए रीति की ओर झुकते प्रतीत होते हैं। कारण स्पष्ट है कि कृष्ण अभी यौवन तो दूर रहा किशोरावस्था को भी प्राप्त नहीं हुए थे फिर वे राधा एवं गोपियों में वासना का संचार कैसे करते। वास्तव में सूर शुद्ध शुद्धाद्वैती थे, जो कृष्ण को गोपियों की दृष्टि से सदायुवा मानते थे और यशोदा की दृष्टि से बालक। ऐसे स्थलों पर सूर का यह संकेत भी याद रखना चाहिए कि वेद की ऋचा एवं देवियाँ गोपियों के रूप में अवतरित हो इस जीवन में कृष्ण-ब्रह्म के साथ विहार कर रही थीं। सूर का अध्यात्म लिखते हुए राधाकृष्ण के स्वरूप को स्पष्ट किया जायगा।

सूर ने शृंगार के वियोग पक्ष को बड़ी विशदता से अंकित किया है। भ्रमरगीत में विरहदग्ध गोपियों की अनेक दशाओं का वर्णन किया है परन्तु अध्यात्म भुलाया नहीं गया है, यह सूर की एक विशेषता है। विरह-वर्णन तो सगुण की स्थापनार्थ ही है। अतः वहाँ तो गोपियाँ क्षणमात्र को भी कृष्ण को नहीं भुलातीं।

वास्तव में सूर ने वल्लभाचार्य जी के आधार पर ही अपने शृंगार का भवन खड़ा किया है। तैत्तिरीयोपनिषद् के आधार पर वल्लभ स्वामी ने भगवान् में रससुख की स्थिति बतलाई है। अतः इसे भगवत्प्राप्ति का साधन माना गया है। वात्सल्य एवं भक्ति (देवपरक रति) शृंगार के ही अंग हैं। अतः सूर ने शृंगार का चित्रण वल्लभाचार्य के ही उपर्युक्त संकेत पर किया। भगवत्-प्राप्ति के रसानन्द के भी दो रूप होते हैं, एक तो उसके सान्निध्य से होने

वाला संयोग सुख और दूसरा सान्निध्याभाव मे वियोगजन्य तड़पन का सुख जिसमें आराध्य की अनेक मधुर काल्पनिक अथवा वास्तविक स्मृतियाँ सदैव भक्त को आनन्द में निमग्न रखती हैं। इन दोनों मे वियोग का दुख विशेष प्रिय होता है और इसी में प्रेमी या भक्त का प्रेम निखर कर कुन्दन बन जात" है तथा परीक्षा भी इसी में होती है। अतः इसी को दोनों मे श्रेष्ठ माना है। यही कारण है कि सूर ने भी श्रृंगार के दोनों पक्षों का चित्रण किया है; किन्तु वियोग को विशेषतः चित्रित किया है।

सूरसागर में काव्य-सौष्ठव—सूर यद्यपि शिक्षित नहीं थे तथापि उनमे काव्य-प्रतिभा नैसर्गिक थी जो भक्ति के उद्रेक से खिल पड़ी थी। हम यह तो अवश्य कहेंगे कि भक्त सूर कवि बन गये थे, न कि कवि सूर भक्त। यही कारण है कि उनके पदों में कृष्ण एवं तत्सम्बन्धी वस्तुओं के प्रति आकर्षण में एक तल्लीनता है। उनकी कविता में ब्रजभाषा का प्रयोग अपने अकृत्रिम रूप मे हुआ है तथा भावों का नियोजन भी सरल, स्वाभाविक एवं सर्वत्र मौलिक रूप में हुआ है। उनका वात्सल्य वर्णन, भ्रमरगीत, नखशिख एवं प्रकृति-चित्रण आदि सभी प्रसंग अलौकिक है। बीसियों पदों में वात्सल्य का चित्रण बड़े ही अनूठे रूप मे हुआ है।

यशोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ, मल्हावै जोइ सोइ कछु गावै॥

*　　*

मेरो नान्हरिया गोपाल बेगि बड़ो किनि होहि।
इहि मुख मधुरे वचन हँसि कबहुँ जननि कहोगे मोहि।

*　　*

यशुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटुरुवन रेंगै कब धरनी पग द्वैक धरै।

*　　*

चलत देखि यशुमति सुख पावै।
ठुमुक ठुमुक धरनी पर रेंगत जननी देखि दिखावै।

*　　*

कजरी को पय पिअहु लला तेरी चोटी बढ़ै।

*　　*

मैया कबहि बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी।

*　　*

बार बार यशुमति सुत बोधति आउ चन्द तोहे लाल बुलावै ।

*　　*

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो ।
मो सों कहत मोल को लीनो तू जसुमति कब जायो ।

*　　*

खेलन अब मेरी जात बलैया ।
जबहिं मोहिं देखत लरिकन सँग तबहिं खिजत बल भैया ।

*　　*

मैया मैं नाहीं दधि खायो ।
ख्याल परै ये सबै सखा मिलि मेरे मुख लपटायो ।

*　　*

दै मैया भँवरा चक-डोरी ।

इत्यादि पदों में बालसहज चरित्र का जो चित्रण हुआ है वह विश्व सहित्य मे दुर्लभ है । न कहीं अत्युक्ति है और न पुनरुक्ति । एक ही भाव का यदि कहीं पुनःप्रकाशन भी है तो भी भिन्न रूप से । यही बात हम भ्रमरगीत में देखते हैं । सैकड़ों ही पदों में निर्गुण के खण्डन एवं सगुण के मण्डन के लिए जो नूतन से नूतन उद्भावनाएँ दीख पड़ती हैं वे सर्वत्र मौलिक हैं । गोपियों की उक्तियों में सहजभाव, वैदग्ध्य, व्यंग्य एवं हास-उपहास आदि देखते ही बनता है ।

संदेशवाहक उद्धव से एक ग्वालिन का रोष तो देखिए—

जाहु जाहु आगे ते ऊधो पति राखति हौं तेरी ।

'पति राखति हौं तेरी' कह कर वह व्यंजित करती है कि तुम कृष्ण के पास से आए हो अतः तुम्हारी मर्यादा रखने के लिए ही छोड़ रही हूँ अन्यथा वह खबर लेती कि याद रखते ।

पुनः गोपियों का तार्किक रूप भी देखिए—

मधुकर हम अयान मति भोरी ।
जाने तेइ योग की बातैं जो हैं नवल किशोरी ।
कंचन को मृग कवने देख्यो किन बाँध्यो गहि डोरी ।
बिनही भीत चित्र किन कीनो किन नभ हठ करि घाल्यो झोरी ।
कहि धौं मधुप वारि मथि माखन काढ़ि जो भरी कमोरी ।
कहो कौन पै कढ़ो आइ कन बहुत सरास पछोरी ।
सबते ऊँचो ज्ञान तुम्हारो हम अहीरी मति थोरी ।
सूरज कृष्णचन्द्र को चाहतै अँखियाँ तृषित चकोरी ॥

इसमें गोपियाँ अपने को मतिहीन और भोली कहती हुई निर्गुण का उपहास करती है और वह भी तर्क से। अंत मे पुनः उद्धव के ज्ञान को ऊँचा कह कर कृष्णचन्द्र के प्रति अपनी आँखों को चकोरी बतलाती हैं। सहज व्यं-ग्य का इतना सुन्दर उदाहरण अन्यत्र सुलभ नही है।

आगे योगी उद्धव का ज्ञान-प्रवाह न रुकते देखकर गोपियाँ व्याजस्तुति करती है—

सखी री मथुरा में द्वै हंस।
वै अक्रूर ए ऊधो सजनी जानत नीके अंस।
ए दोऊ नीर खीर निखारत इनहि बधायो कंस।
इनके कुल ऐसी चलि आई सदा उजागर वंस।
अब इन कृपा करी ब्रज आए जानि आपनो अंस।
सूर सु ज्ञान सुनावत अबलनि सुनत होत मति भ्रंस॥

इस स्तुति में भी कितना मीठा व्यंग्य है। स्तुति से निन्दा की व्यञ्जना का यह उत्कृष्ट उदाहरण है।

जब किसी प्रकार भी उद्धव न माने तो गोपियों ने पूछा, उधो! तुम्हे अपनी सौगन्ध है भला यह तो बताओ कि जब तुम चले थे तब क्या कृष्ण कुछ मुस्कराये थे—

साँच कहो तुमको अपनी सौ बूझति बात निदाने।
'सूर' स्याम जब तुम्हें पठाये तब नेकहु मुसुकाने॥

यदि वे मुस्कराये थे तो अवश्य ही उन्होंन तुम्हें उल्ल बनाया है—यह व्यञ्जना कितनी मनोहारी किन्तु सहज है।

इन प्रसंगों के अतिरिक्त सूरसागर में प्रकृति-चित्रण तो हुआ है परन्तु स्वतन्त्र रूप में नहीं। उसे उद्दीपन के रूप में ही स्थान मिला है। इस प्रसग में मेघ, यमुना, कुञ्जें, मीन, चातक एवं खञ्जन आदि को ही विशेषतः साधन बनाया गया है।

कला की दृष्टि से रसों के चित्रण में माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुणों की तथा उपनागरिका, परुषा एवं कोमल वृत्तियों की योजना बड़ी सुन्दर हुई है, यथा—

संयोग शृंगार—

नवल किसोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम-भुज ऊपर, स्याम-भुजा अपनै उर धरिया॥
क्रीडा करत तमाल तरुन तर स्यामा-स्याम उमँगि रस भरिया।
यों लपटाइ रहे उर-उर ज्यों, मरकत मनि कंचन में जरिया॥

वियोग शृंगार—

बिन गोपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं ॥
वृथा वहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलैं, अलि गुंजैं।
पवन पानि घनसार संजीवनि, दधिसुत-किरन भानु भई भुंजैं ॥
ए ऊधौ! कहियो माधव सौं, बिरह-कदन करि मारत लुंजैं।
सूरदास प्रभु कौ मग जोवत, अँखियाँ भईं नख ज्यों गुंजें ॥

करुण रस—

अति मलीन वृषभानु-कुमारी।
हरि-स्रम-जल अन्तर तनु भीजे, ता लालच न धुवावति सारी ॥
अधोमुख रहति, उरधि नहिं चितवति, ज्यों गथ हारे थकित जुवारी।
छूटे चिहुर, वदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी ॥
हरि-संदेश सुनि सहज मृतक भई, इक विरहिन दूजे अली जारी।
सूर स्याम बिनु यों जीवति है, ब्रज वनिता सब स्याम-दुलारी ॥

वीररस—

गह्यौ कर स्याम भुज मल्ल अपने धाइ,
झटकि लीन्हौं तुरत पटकि धरनी।
भटक अति सब्द भयौ, खुटक नृप के हिये,
अटक प्रानन पर्‌यौ चटक करनी।
लटकि निरखन लग्यौ, मटकि सब भूलि गयौ,
हटकि गयौ गटक सब मीच जागी।
मुष्टिकै मरदि, चाणूर चुरकुट कर्‌यौ,
कंस कों कंप भयौ, रंगभूमि अनुराग रागी ॥

भयानक रस—

भहरात झहरात दावानल आयौ।
घेर चहुं ओर, करि सोर अन्दोर वन,
धरनि आकास चहुँ पास छायौ ॥
बरत वन बाँस, थरहरत कुस-काँस,
जरि उड़त बहु झांस अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटत लपट, फूल फूटत पटकि,
द्रुम चटकि लट लटकि फटि नवायौ ॥
अति अगनि भार भंभार धुंधार करि,
उचटि अंगार झंझार छायौ।
बरत वन-पात भहरात झहरात,
अररात तरु महा धरनी गिरायौ ॥

इन उद्धरणों में शृंगार में माधुर्य, करुण में प्रसाद एवं वीर तथा भयानक में ओज गुण की बड़ी सुन्दर व्यंजना हुई है।

उपर्युक्त वस्तु-वर्णन एवं रस-व्यञ्जना के अतिरिक्त सूरसागर में सहज अलंकारों की योजना भी बड़ी मनोहर है। सूरदास कहीं भी अलंकारों के चक्कर मे नही पड़े। हाँ दृष्टकूटों में अवश्य कला-प्रदर्शन की लालसा दृष्टि-गोचर होती है। वह उन पर रीति-प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और वक्रोक्ति ही उन्हें अधिक प्रिय प्रतीत होते है। इन अलंकारों के कुछ सुन्दर उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

उपमा—

अपुनपो आपुन ही बिसर्यो।
जैसे श्वान काँच मंदिर में भ्रमि भ्रमि भूसि मर्यो॥

* *

क्रीड़ा करत तमाल तरुन तर श्यामा श्माम उमँगि रस भरिया।
यों लपटाइ रहे उर उर ज्यों मरकत मणि कंचन में जरिया॥

* *

स्याम भए राधा बस ऐसे।
चातक स्वांति, चकोर चन्द्र ज्यों, चक्रवाक रवि जैसे॥

इन उपमाओं मे एक विचित्रता है। प्रथम दोनों उपमाएँ हिन्दी साहित्य में अपने ढंग की निपट निराली हैं। सूरदास के रूपक भी बड़े विचित्र एवं साग है। राधा की सखी राधा में बाग का आरोप करती हुई कृष्ण से कहती है—

अद्भुत एक अनूपम बाग।
युगल कमल पर गज क्रीड़त है तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव ता पर शुक पिक मृग मद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मणिधर नाग॥

यह एक कूट पद है जिसमें कृष्ण को संकेत से राधा के नखशिख का रूप-लावण्य भी व्यंजित करना है। राधा को बाग तो बनाया है परन्तु उसमे बड़ी विचित्र बातें हैं अतएव अद्भुत है।

निम्न पद में भवोदधि का रूपक कितना पूर्ण है—

अब के नाथ मोहिं उधारि।
मगन हौं भव-अम्बुनिधि में, कृपासिंधु मुरारि।
नीर अति गम्भीर माया, लोभ-लहरि तरंग।
लिए जात अगाध जल में, गहे ग्राह अनंग॥
मीन इन्द्री तनहिं काटत, मोट अघ सिर भार।
पग न इत उत धरन पावत, उरभि मोह सिवार॥

क्रोध-दंभ-गुमान-तृस्ना पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत सुत-तिय नाम नौका ओर।
थक्यौ बीच बिहाल बिह्वल सुनौ करुनामूल।
स्याम! भुज गाहि काढ़ि लीजै 'सूर' ब्रज के कूल॥

उत्प्रेक्षा अलंकार तो अत्यधिक मात्रा में व्यवहृत हुआ दृष्टिगोचर होता है। एक से एक सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ हमें दीख पड़ती हैं। उदाहरणार्थ कुछ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

लकुट लपेटि लटकि भए ठाढ़े एक चरण धर धारे।
मनहुँ नील मणि खंभ काम रचि एक लपेटि सुधारे॥

* *

कटि तट पीत वसन सुदेष।
मनहुँ नव घन दामिनी लजि रही सहज सुवेष॥

* *

राजत रोम राजिव रेष।
नील घन मानो धूमधारा रही सूछम शेष॥

* *

वदन सरोज निकट कुंचित कच मनहु मधुप आएँ मधु लैन।

* *

चपल उनींदे नैन लागत सोहाये।
नासिका चंपकली को द्वै अलि धाये॥

* *

नैन निकट ताटंक की शोभा मंडल कविन बखानै।
मानो मन्मथ फन्द त्रास ते फिरत कुरंग सकानै॥

* *

भ्रकुटी विकट नैन अति चंचल यह छवि पर उपमा इक धावत।
धनुष देखि खंजन विवि डरपत उड़ि न सकत उठिवे अकुलावत॥

इस प्रकार हमें एक से एक उत्प्रेक्षाएँ इस ग्रन्थ में मिलती हैं। भ्रमर-गीत के अनेक पद वक्रोक्ति एवं व्याजस्तुति के बड़े सुन्दर उदाहरण हैं, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है।

अनुप्रास की छटा भी यत्र-तत्र दिखलाई देती है—

मणिमय नूपुर कुनित कंकन किंकिनी झनकारनो।

* *

घटा घनघोर घहरात अररात, दररात सररात ब्रज लोग डरपैं।

इन अनुप्रासों में बनावट नहीं वरन् एक सहज प्रवाह है।

शब्दालंकारों में अनुप्रास के अतिरिक्त श्लेष एवं पुनरुक्तवदाभास की विचित्र योजना राधा के सौन्दर्य-विषयक निम्न दृष्टकूट में दर्शनीय है—

> पद्मनि सारंग एक मझारि।
> आपुहि सारंग नाम कहावै सारंग वरनी वारि॥
> तामें एक छबीलो सारंग अर्ध सारंग उनहारि।
> अर्ध सारंग परि सकलाई सारंग अधसारंग बिचारि॥
> तामहि सारंग सुत शोभित है ठाढी सारंग सँभारि।
> सूरदास प्रभु तुमहु सारंग बनी छबीली नारि॥

सूरदास का उपर्युक्त 'अद्भुत एक अनूपम बाग' तथा यह पद विद्यापति के निम्न पदांशों से क्रमशः बहुत साम्य रखते हैं—

> माधव की कहव सुन्दरि रूपे।
> कतेक जतन बिहि आनि समारल, देखल नयन सरूपे॥
> पल्लव राज चरन जुग सोभित, गति गजराज क भाने।
> कनक कदलि पर सिंह समारल, तापर मेरु समाने॥
> मेरु ऊपर दुइ कमल फुलायल, नाल बिना रुचि पाई।
>
> *　　　　*
>
> सारँग नयन वयन पुनि सारँग सारँग तसु समधाने।
> सारँग ऊपर उगल दस सारँग केलि करथि मधुपाने॥

इस प्रकार सूरसागर में हम काव्य-कला का निखरा रूप उसके सौष्ठव की पूर्ण समृद्धि के साथ मिलता है।

सूर की भक्ति—भक्ति से तात्पर्य है भक्त का भगवान् में अनन्य भाव। भक्ति के क्रमिक विकास में नौ स्थितियाँ होती है। अतः भक्ति को नवधा कहा गया है। इस स्थिति-भेद से भक्ति के नौ भेद है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरणसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। हमें सूर के पदों में नवधा भक्ति के उदाहरण मिलते है।

बल्लभाचार्य की भेंट से पूर्व सूरदास प्रायः विनय के पद गाया करते थे। वैष्णव सम्प्रदाय में विनय की सात भूमिकाएँ बतलाई हैं—दीनता, मानमर्षता, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारण।

भक्त दीनता की स्थिति मे अपने को अत्यन्त दीन बतलाया करता है, यहाँ तक कि संसार के सभी प्रसिद्ध पापियों का शिरोमणि भी अपने को कहता है। अतः अकिञ्चन और अनाथ की भाँति वह प्रभु से साहाय्य की याचना करता है। मानमर्षता मे वह अपराधी की भाँति गिड़गिड़ाता है और अपने को सर्वसाधनहीन बताता है। भयदर्शन में वह अपने को संसार

की विषमताओं या यमयातनाओं से डराता है। भर्त्सना स्थिति में वह मन को अधिकारपूर्ण वाणी में हरिविमुखता से वर्जित करता है। आश्वासन की भूमिका में त्रस्त एवं निराश मन को यह कह कर ढ़ाढस बंधाता है कि हे मन! क्यों दुखी होता है। प्रभु पतितपावन है, वह अवश्य ही तेरा उद्धार करेगा क्योंकि उस करुणासागर ने तुझसे भी अधिक अनेक पतितों का निस्तार किया है। मनोराज्य की स्थिति में भक्त मन मे उद्‌गत होने वाली अनेक सुखकर भावनाओं की पूर्ति के लिए अपने प्रभु से प्रार्थना करता है। अन्तिम विचारण की स्थिति मे तत्वदर्शन की प्रधानतां होती है। अतः भक्त सांसारिक प्रपंच का वैषम्य एवं उसका मिथ्यात्व बतलाता हुआ मन को प्रतिबोध देता है और इससे नाता तोड़ भगवान् से अनन्य भक्ति करने का आग्रह करता है।

सूरदास के विनय के पदों में हमें ये सातों स्थितियाँ मिलती हैं।

बल्लभाचार्य जी के मिलन के पश्चात् उनकी भक्ति दास्य रूप से सख्य रूप में परिणत हो गई थी परन्तु एकान्ततः उन्होंने सख्य भक्ति के ही पदों की रचना की, ऐसा नहीं। उनके पदों में हमें उ रिलिखित नवधा भक्ति के उदाहरण मिलते हैं। भ्रमरगीत में श्रवण और कीर्तन के, गोप-गोपियों के पारस्परिक वार्त्तालाप में स्मरण के, गोवर्द्धन लीला में चरण-सेवन तथा अर्चन के, दानलीला में बन्दन के, विनय-प्रदर्शन में दास्य के, क्रीड़न एवं गोचारण में सख्य के और भ्रमरगीत में आत्मनिवेदन के अनेक पद विद्यमान है।

सूरदास बल्लभाचार्य के शिष्य होने के नाते पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे। पुष्टि से तात्पर्य अनुग्रह है। अतः इनकी भक्ति प्रेम-लक्षणा थी। इनकी नवधा भक्ति एवं उसकी अनेक स्थितियों में प्रेम का समन्वय अनन्य भाव से दृष्टिगोचर होता है। अतः इनके रति-चित्रण में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर नामक रति के पाँचों प्रकार मिलते है।

सूर का अध्यात्म—सूरदास बल्लभमतानुयायी थे। अतः उन्होंने बल्लभाचार्य द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण तो किया परन्तु अपनी मौलिकता को विनष्ट न होने दिया। बल्लभाचार्य ने एक अक्षर-ब्रह्म को माना है और वही चरमसत्ता है, जो सत्, चित् और आनन्द गुणों से युक्त है। वे औपनिषदिक ब्रह्म-स्वरूप को आधार बनाते हुए भी ब्रह्म को निर्विकार स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार ब्रह्म कृष्ण के रूप में अवतार लेता है और इस प्रकार वह कर्त्ता से भोक्ता का रूप धारण कर लेता है। सृष्टि को उन्होंनें जीवात्मक और जड़ात्मक—दो रूपों में माना है। इन दोनों रूपों में जो

उत्पत्ति और विनाश होता रहता है वह उस ब्रह्म का आविर्भाव और तिरोभाव है। वे जीव को ब्रह्म का अंश उसी प्रकार मानते हैं जिस प्रकार अग्नि के स्फुलिंग। अतः उनमे तत्वतः अभेद होते हुए भी वे जीव की सत्ता को ब्रह्म से पृथक् ही मानते हैं। सृष्टि ब्रह्म से उत्पन्न हुई है और जीव उसका अंश है परन्तु फिर भी वे शांकर अद्वैत को स्वीकार नही करते। इन्होंने माया को नहीं माना। शांकर मत के अनुसार माया ही सम्पूर्ण नाटक की सूत्रधार है। बल्लभ स्वामी ने माया से तात्पर्य अविधा लिया और माया-विहीन अद्वैत को शुद्धाद्वैत के रूप मे स्वीकार किया। उनका कथन है कि मिथ्या रूप माया सत् रूप ब्रह्म से गठबन्धन कैसे जोड़ सकती है, तथा जीव ब्रह्म का अंश तो है परन्तु उसमे आनन्द गुण नहीं और सृष्टि ब्रह्म से उत्पन्न अवश्य हुई परन्तु उसमें चित् और आनन्द गुण नहीं। इस प्रकार न वे शांकर अद्वैत को मानते है और न उसमें मिथ्यारूप माया का पचड़ा स्वीकार करते हैं।

सूर के ब्रह्म कृष्ण ही हैं। वे उन्हें विष्णु का अवतार मानते हुए भी उनमें पूर्ण ब्रह्मत्व का आरोप करते हैं। बल्लभस्वामी ने श्रीकृष्ण को परमब्रह्म मान कर उन्हें पुरुषोत्तम बतलाया तथा उनमें समस्त दिव्य गुणों को स्वीकार किया। उनके अनुसार कृष्ण का सतोगुण विष्णु के रूप में लोक-रक्षा करता है, रजोगुण ब्रह्मा के रूप मे सृष्टि की उत्पत्ति करता है और तमोगुण महेश के रूप में संसार में संहार करता है। सूरदास ने भी कृष्ण रूप ब्रह्म को ब्रह्मा, विष्णु और महेश से श्रेष्ठ माना परन्तु उसकी भक्तवत्सलता पर मुग्ध हो कर उसके परमानन्द रूप को विशेष महत्व दिया। उन्होंने उसे अनेक स्थलों पर गुणातीत, सर्वव्यापक और अद्वैत भी लिखा है परन्तु निर्गुण को भक्त के लिए अगम समझ कर सगुण की स्थापनार्थ उसके आनन्द रूप को ही विशेषतः ग्रहण किया, जिसके विकास मे राधा एवं अन्य गोपियों के चित्रण ने बड़ा योग दिया। बल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों में राधा के लिए कोई स्थान न था परन्तु सूर ने राधा को सच्चिदानन्द कृष्ण-ब्रह्म की आदि प्रकृति कहा। अतः उनमें (राधा-कृष्ण में) कोई वास्तविक भेद नहीं है वरन् लीला सुख के लिए ही वे पृथक् हुए हैं। गोपियाँ भी उनसे भिन्न नहीं हैं। वामन पुराण मे लिखा है कि गोपियाँ वेद की ऋचाएँ है। एक बार जब ब्रह्म रूप आदि पुरुष ने अपने प्राकृत रूप का संवरण कर लिया तो वैकुण्ठ के अतिरिक्त सारा विश्व उसमें लीन हो गया। श्रुतियों ने ब्रह्म से अपना रूप दिखाने के लिए प्रार्थना की तो उन्होंने वृन्दावन का बड़ा रम्य धाम दिखाया, जिसे देखकर श्रुतियाँ परम मुग्ध हो उनसे बोलीं कि भगवन्! हम आपके

साथ यहाँ विहार करना चाहती हैं। भगवान् ने तथास्तु कहा। इसी के परिणाम स्वरूप ब्रह्म ने कृष्ण रूप धारण किया और श्रुतियों ने गोपिकाओं का रूप लिया और अनेक लीलाएँ कीं।

सूर ने भी गोपियों को वेद की ऋचाओं का अवतार माना है। वे राधा और कृष्ण की लीला को अनादि और अनन्त मानते है। सूरसागर में एक स्थल पर कृष्ण अपने को पुरुष और राधा को अपनी प्रकृति कह कर अभेद बतलाते हैं। अष्टवर्षीय कृष्ण जब सप्तवर्षीया राधा को रागबद्ध करना चाहते हैं तब भी उन्होंने यही कहा कि मैं और तू भिन्न नही, मैं जहाँ भी शरीर धारण करता हूँ वहाँ तेरे ही लिए। एक स्थान पर राधा की सखियों ने उसे शेष, महेश एवं मुनियों की भी स्वामिनी कहा है।

सृष्टि और जीव के विषय में सूर को वल्लभाचार्य का मत ही अभीष्ट है। सूरदास ने माया को स्वीकार किया है परन्तु उन्होने भी बल्लभस्वामी की भाँति माया से तात्पर्य अविद्या ही लिया और इस अविद्यारूप माया को संसार का कारण मान कर उसे मिथ्या माना। इस प्रकार उन्होंने माया को मिथ्या संसार की उत्पत्ति का मूल हेतु स्वीकार कर हेय तो बतलाया है परन्तु दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध में भगवद्भक्ति में सहायिका भी कहा है।

बल्लभाचार्य ने 'पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेद' नामक ग्रन्थ में भगवत्प्राप्ति के तीन मार्ग बतलाए हैं—मर्यादा-मार्ग, प्रवाह-मार्ग और पुष्टि-मार्ग। मर्यादा-मार्ग से तात्पर्य शास्त्र सम्मत मार्ग से है और प्रवाहमार्ग लोकसम्मत मार्ग को कहा गया है। पुष्टिमार्ग वह मार्ग है जिस पर चलते हुए भगवान् का अनुग्रह प्राप्त किया जाता है, जिससे भक्त में भक्ति उद्‌बुद्ध होती है और पुनः वह भगवान् का सायुज्य-लाभ करता है।

सूरदास ने इनमें से केवल पुष्टिमार्ग को ग्रहण किया। हम मर्यादा मार्ग को ज्ञानमार्ग, प्रवाहमार्ग को कर्ममार्ग और पुष्टिमार्ग को भक्तिमार्ग भी कह सकते है। कर्मकाण्डी स्वर्ग तक पहुँचता है, ज्ञानी अक्षर-ब्रह्म को प्राप्त करता है और भक्त पूर्ण पुरुषोत्तम रूप कृष्ण को। सूर न स्वर्ग के इच्छुक थे और न अक्षर-ब्रह्म के, उन्हें तो पूर्ण पुरुषोत्तम चाहिए था और वह उन्हें कृष्ण के रूप में मिला। वह कृष्ण, उसी के अनुग्रह से प्रसूत भक्ति से ही मिल सकता है। अतः सूर ने प्रेम-लक्षणा भक्ति को ही अपनाया जो पुष्टिमार्ग का प्राण है।

पुष्टिमार्ग के अनुसार भगवत्सेवा दो प्रकार की है—नाम-सेवा और स्वरूप-सेवा। स्वरूप-सेवा को त्रिप्रकारा बतलाया है—तनुजा, वित्तजा और

मानसी। पुनः मानसी सेवा को भी द्विविधा कहा है—मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय। सूरदास ने पुष्टिमार्गीय मानसी स्वरूप-सेवा को ही महत्व दिया।

सूर के अध्यात्म मे हमें कुछ रहस्यात्मकता भी दीख पड़ती है। कृष्ण परम ब्रह्म है और गोपियाँ श्रुति का अवतार हैं। वल्लभस्वामी ने भी गोपियों को श्रुति का अवतार एवं कृष्ण की शक्ति माना है। सूर ने राधा को कृष्ण-ब्रह्म की आदि प्रकृति माना है। वास्तव में गोपियाँ जीवात्मा हैं जो ब्रह्म से लीला करती हैं। बल्लभाचार्य ने वेणु को नामलीला का प्रतीक माना है। सूरदास ने भी उसे अलौकिक एवं रहस्यमयी बतलाया है, जो अज्ञान-सुप्त प्राणियों को जाग्रत कर उन्हे अपने मूल की ओर आकृष्ट करती है। गोपियो का रास खेलना भी जीवात्माओं का ब्रह्म के साथ आनन्द-रस मे निमग्न होना है। इस आनंन्द निमग्नता में ही आत्मसमर्पण का भाव निहित है। इस प्रकार सूर के ही संकेतों द्वारा हम इस परिणाम पर आते हैं कि उनके अध्यात्म में रहस्य भरा हुआ है। अन्यथा कोरा शृंगार उनके लिए केवल कलंक का ही कारण होता।

सूर की महत्ता—सूर एक प्रतिभाशील कवि थे। उन्होंने कृष्ण का चरित्र चित्रण करने के लिए कविता का अभ्यास किया, ऐसा नहीं है। वरन् वास्तव में वे निसर्गतः कवि थे। कृष्ण-भक्ति उनमें रम रही थी। अतः उनकी काव्य-शक्ति कृष्ण-लीला-वर्णन में फूट पड़ी। उनके काव्य-सौन्दर्य के कई कारण है, एक तो वे कृष्णभूमि ब्रज के निवासी थे। अतः इन्होंने ब्रजभाषा का प्रयोग किया और ब्रज का लालित्य एवं माधुर्य प्रसिद्ध ही है। दूसरे वे प्रेमलक्षणा भक्ति की साकार मूर्ति थे और प्रेमपूर्ण हृदय से निकला हुआ वाक्य मनोहारी होता है। क्योंकि उसमे कृत्रिमता नही होती। तीसरे उनकी रचना प्रबन्ध रूप में नहीं है। अतः वे किसी दृढ़ नियम पाश में आबद्ध नही हो सके है। चौथे यह कि उनकी भाषा और भाव सहज प्रवाह रूप से निकले हैं जिनमें आलंकारिक अथवा किसी अन्य प्रकार की बनावट नहीं।

यद्यपि उन्होंने रूप-वर्णन अधिक नहीं किया है परन्तु जहाँ भी किया है, वह अनुपम है। प्रकृति-सौन्दर्य का चित्रण तो तुलसीदास से भी अधिक सुन्दर है। ऐसे सुन्दर स्थलों पर काव्यगुण एवं अलंकारादि स्वयं ही आ खचे हैं, जैसा कि प्रतिभाशील कवि की कविता में होता है। इनके रूपक और उत्प्रेक्षा तो इनके काव्य के अतुलनीय अलंकार हैं। इनके दो प्रसंग—कृष्ण की बाल-लीला और भ्रमरगीत तो विश्वसाहित्य में समता नहीं रखते।

कृष्ण की शिशु-लीला, दधि-माखन चोरी और गौचारण आदि वर्णन नें सूर की वाणी को अमर बना दिया है । उनका रासलीला-वर्णन पाठक को स्वतः रास-रंग में निमग्न कर देता है, जिससे जादू-सा छा जाता है और पाठक आनन्द-विभोर हो आत्मविस्मृत हो जाता है । भ्रमरगीत में विरह-विकल गोपियों की उपालम्भमिश्रित सूक्तियाँ और उद्धव की दार्शनिकता एक ही स्थल पर मिल कर इतनी मनोहारिणी हो गई हैं जितनी कि धूपछाँह रंग की झिलमिलाहट । सैकड़ों पदों में हुए गोपी-उद्धव संवाद में तनिक भी तो शिथिलता नहीं आनें पाई है । कई स्थलों पर तो एक ही बात घुमा-फिरा कर कही गई है, यही बात वात्सल्य-चित्रण में भी हुई है परन्तु सर्वत्र नवीनता ही दृष्टिगोचर होती है, कहीं पुनरुक्ति का आभास भी नहीं मिलता । इनकी भाषा का माधुर्य भी अपना ही है और भाषा भी प्राञ्जल है जो कृत्रिमता से कोसों दूर है । शृंगार का औचित्यपूर्ण चित्र होते हुए भी उसकी रसराजता में त्रुटि नहीं आने पाई है । माधुर्य एवं प्रसाद गुण तो रसानुकूल अपनी पूर्ण सजधज से आए हैं, जिन्होंने तुच्छ दोषों को अपने प्रताप से अदृष्ट-सा बना दिया है । वास्तव में सूर के समकक्ष तुलसी के अतिरिक्त कोई बैठने का अधिकारी नहीं और कृष्णभक्त कवियों में तो वे बेजोड़ हैं ।

मीरा

मीरा के जन्म, सगे-सम्बन्धियों एवं अन्य जीवन सम्बन्धी तथ्यों के विषय में बड़ा मतभेद है। उनके पश्चात् कालान्तर में हुए जिन लोगों ने उनके विषय में लिखा या फिर दन्तकथाएँ चल पड़ीं, उनमें परस्पर बड़ी भिन्नता है।

नाभादास जी ने अपने भक्तमाल में मीरा का उल्लेख किया है तथा प्रियादास ने भक्तमाल की टीका 'भक्तिरस बोधिनी' में (सं० १७६६) लिखा है कि मीरा की जन्मभूमि मेड़ता थी। वे गिरधरलाल से प्रेम करती थीं, जिसे छुडाने के लिए राणा ने अनेक कष्ट दिये परन्तु वे न मानीं और अन्त में द्वारका चली गईं। एक बार इनकी प्रशंसा सुनकर दिल्लीश्वर अकबर भी तानसेन के साथ इनके दर्शन को गया था।

सं० १६०० के आस-पास निर्मित 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' से मीराबाई का गोस्वामी बिट्ठलनाथ के समय में होना निश्चित होता है। और बिट्ठलनाथ जी का समय सं० १५७२ से सं० १६४२ तक है।

राठौर वंश में उत्पन्न हुए नागरीदास ने भी विक्रम की १८ वी शताब्दी के मध्य मे निर्मित अपनी रचनाओं मे मीरा के विषय में लिखा है कि मेड़ते की मीराबाई का विवाह राणा के छोटे भाई के साथ हुआ था।

इनके अतिरिक्त और भी चरणदास एवं सुन्दरदास आदि भक्तों ने उनका उल्लेख किया है। परन्तु इन उल्लेखों एवं विवरणों से उनके निश्चित समय एवं सगे-सम्बन्धियों पर पूरा प्रकाश नहीं पड़ता है।

कर्नल टाड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एनल्स एंड एंटिक्विटीज़ आफ राजस्थान' मे जनश्रुत के आधार पर मीरा का विवाह राणा कुम्भा से लिखा है। शिवसिह सेंगर ने अपने सरोज मे कर्नल टाड के ही असुसार मीरा को राणा कुम्भा भी स्त्री स्वीकार किया है।

पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने उदयपुर राज्य के इतिहास में लिखा है कि महाराणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज का विवाह मेड़ते के राव वीरमदेव के छोटे भाई रत्नसिह की पुत्री मीराबाई के साथ सं० १५७३ में हुआ था। कर्नल टाड एवं उन्हीं के अनुकरण पर जिन लोगों ने मीरा को कुम्भा की स्त्री लिखा है, वे दन्तकथाओं के आधार पर भूल कर गए हैं।

मीरा ने अपने विषय में लिखा है—

मेड़तिया घर जन्म लियो है, मीरा नाम कहायो।

इससे स्पष्ट है कि वे मेड़ते के राजघराने में उत्पन्न हुई थीं। जोधपुर के संस्थापक राठौरवंशीय राव जोधा के चौथे पुत्र राव दूदा ने सं० १५१८ में मेड़ते का अधिपति बनने के पश्चात् मेड़तिया शाखा चलाई थी। इन्ही राव दूदा के ज्येष्ठ पुत्र वीरमदेव का जन्म सं० १५३४ में हुआ। पिता की मृत्यु के पश्चात् सं० १५७२ में वीरमदेव ही राजगद्दी पर बैठे। इन्हीं ने अपने छोटे भाई रत्नसिंह की पुत्री मीराबाई का विवाह सं० १५७३ मे महाराणा साँगा के पुत्र भोजराज से किया था। यदि हम कुम्भा को मीरा का पति माने तो मानना पड़ेगा कि कुम्भा से ९ वर्ष पूर्व मीरा के ताऊ का जन्म हुआ था। क्योंकि कुम्भा की मृत्यु सं० १५२५ में हुई थी और यह मानना अत्यन्त उपहासास्पद होगा।

मीरा ने अनेक स्थानों पर राणा से सर्प-विष आदि के द्वारा सताया जाना लिखा है। यहाँ विचारणीय है कि यह राणा कौन था? इनके पति भोजराज ने मीरा के पद-गायन पर ही मुग्ध हो कर इनसे विवाह किया था। उन्होंने विवाहोपरान्त मीरा से नाचने एवं गाने को मने अवश्य किया था परन्तु उन्होंने मीरा को कष्ट नहीं दिये थे। भोजराज की मृत्यु तो विवाह के ३ वर्ष पश्चात् ही राणा साँगा के समक्ष सं० १५७५ में हो गई थी। राणा के उत्तराधिकारी भोजराज की मृत्यु के पश्चात् राणा का देहान्त भी सं० १५८४ में बाबर से युद्ध करने के एक वर्ष पश्चात् हो गया और रत्नसिंह गद्दी पर बैठे। इन्हेंभी इनके छोटे भाई विक्रमादित्य ने राव सूरजमल के द्वारा मरवा डाला और स्वयं गद्दी पर आसीन हुआ। इसी विक्रमादित्य ने मीरा को अनेक कष्ट दिये थे। यह बड़ी दुष्ट प्रकृति का था। इसने अपने भाई के जीते जी उसके विरुद्ध षड्यंत्र किया और उसकी मृत्यु का कारण बना। सभी लोग इसके विरोधी थे। अतः यह भी सब से चिढ़ता था। मीरा भी इसकी दुष्ट प्रकृति की शिकार हुई। राणा साँगा बड़ी उदार प्रकृति के थे और रत्नसेन केवल चार वर्ष जीवित रहे और यह समय भी उनका मालवा एवं गुजरात के मुसलमानों से युद्ध करने मे बीता। अतः ये दोनों मीरा के कष्टदाता नही हो सकते।

मीरा का भोजराज की पत्नी होना निम्न पदाँश से भी सिद्ध होता है—

ईडरगढ़ का आया ओलंबा।
भाभी मीरा लाजे गढ़ चित्तौड़॥

इनकी एक ननद ऊदाबाई थी, उन्हीं का उपर्युक्त वचन हैं। ऊदाबाई का विवाह ईडरगढ़ के राजा रायमल से हुआ था। मीरा के नाचने-गाने की चर्चा वहाँ भी पहुँची होगी। और वहाँ से उलाहना आया होगा। रायमल राणा साँगा के बड़े कृपापात्र थे। राणा की सहायता से ही उन्होंने अपने चचेरे भाई भारमल्ल से पराजित होने के पश्चात् पुनः ईडर को विजित किया था। ये रायमल राणा के जामाता थे, जिन्हें मीरा की ननद ब्याही थी। अतः मीरा राणा साँगा की पुत्रबधू ही थीं इसमे तनिक भी सन्देह नही।

मीरा का विवाह सं० १५७३ में हुआ था। उस समय उनकी अवस्था छोटी थी। यदि उस समय उनकी आयु १३-१४ वर्ष की भी मानी जाए तो उनका जन्म सं० १५५९ और १५६० के बीच माना जा सकता है।

इनके विषय मे अनेक दन्तकथाएँ भी प्रचलित है। एक के अनुसार विक्रमादित्य से अत्यन्त दुःखी होकर इन्होंने तुलसीदास को एक पत्र लिखकर भेजा था। रीवां नरेश रघुराजसिंह कृत भक्तमाल में वह पत्रिका इस प्रकार है—

श्री तुलसी सुख-निधान दुखहरन गुसाईं।
बारहि बार प्रनाम करूँ हरो सोक-समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहिं देत कलेस महाई।
बालपने ते मीरा कीन्ही गिरधरलाल मिताई।
सो तौं अब छूटै नहिं क्यों हूँ लगी लगन बरियाई॥
मेरे मात-पिता के सम हौ हरि-भगतन सुखदाई।
हमकूँ कहा उचित करिबो है सो लिखियो समुझाई॥

इसमें मीरा ने विपन्नावस्था मे अपना कर्त्तव्य पूछा था। इसके उत्तर में तुलसीदास ने निम्न पद लिखकर भेजा—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिए ताहिं कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद बिभीषन बंधु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज बनितन मे सब मंगलकारी॥
नातो नेह राम सो मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौ।
अंजन कहा आँखि जो फूटै बहुतक कहौ कहाँ लौ॥
तुलसी सो सब भाति परम हित पूज्य प्रान तें प्यारो।
जासों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो॥

इस पत्र-व्यवहार में कोई तथ्य प्रतीत नहीं होता। विक्रमादित्य ने इन्हें क्लेश दिया था और उसका राजत्वकाल सं० १५८८ से सं० १५९३ है। अतः

यह पत्र-व्यवहार इसी बीच हुआ होगा। गोस्वामी जी का जन्म सं० १५८९ में हुआ। अतः सं० १५९३ या कुछ समय पश्चात् तक तो तुलसीदास बालक ही रहे होंगे, फिर भला पत्र-व्यवहार कैसा ! इसके अतिरिक्त तुलसीदास का उपर्युक्त पद विनयपत्रिका में आया है और विनयपत्रिका का रचनाकाल लगभग सं० १६६० है। मीरा की मृत्यु सं० १६०३ के लगभग हो गई थी। इसलिए भी उक्त पत्र-व्यवहार ठीक प्रतीत नहीं होता। कुछ लोग मीरा का निधन काल सं० १६१६ मानते हैं। इससे भी तुलसीदास से पत्र-व्यवहार सिद्ध नहीं होता। क्योंकि इस समय के पश्चात् तक तुलसीदास तीर्थाटन में ही लगे रहे और न इतने प्रसिद्ध ही हुए थे।

एक जनश्रुति के अनुसार अकबर और तानसेन मीरा के दर्शन के लिए आए थे जिसका उल्लेख नाभादास ने भी भक्तमाल में किया है परन्तु यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि अकबर का जन्म सं० १५९९ में अमरकोट में हुआ था। अतः मीरा की मृत्यु के समय तो वह केवल चार वर्ष का था। यदि कुछ लोगों के अनुसार मीरा का मृत्युकाल सं० १६१६ भी माना जाए तो भी अकबर उस समय बीस वर्ष का होता है। और यह अवस्था इतनी पक्व नहीं कि अकबर मीरा से मिलने जाता।

इस प्रकार और भी अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं परन्तु वे कोई महत्व नहीं रखतीं। एक दन्तकथा के अनुसार रैदास को इनका गुरु माना गया है। कुछ पंक्तियाँ भी इसकी पुष्टि के लिए उद्धृत की जाती हैं। यथा—

रैदास संत मिले मोहि सतगुरु दीन्ह सुरत सहदानी।

* *

काशी नगर ना चौक माँ मने गुरु मिला रोहीदास।

परन्तु ये पंक्तियाँ या पदांश प्रक्षिप्त से प्रतीत होते हैं। क्योंकि रैदास की भक्ति तो ज्ञान-परक थी जब कि मीरा शुद्ध भक्तिमार्ग की अनुगामिनी थीं। भक्तमाल में लिखा है कि झाली रानी चित्तौड़ से काशी गई थीं और वहाँ रैदास की शिष्या बनी थीं। झाली रानी राणा साँगा की माँ और रायमल्ल की पत्नी थीं। रायमल्ल का निधन सं० १५६६ में हुआ। अतः रैदास भी झाली रानी के समकालीन थे न कि मीरा के। यदि रैदास के अन्तिम दिनों में उनसे मीरा का साक्षात्कार भी माना जाए तो भी उपर्युक्त बात सिद्ध नहीं होती क्योंकि मीरा ने स्वयं लिखा है कि वे काशी कभी नहीं गईं—

मंत्र न जंत्र कछुए ना जाणूँ वेद पढ्यो न गै काशी।

कुछ लोगों ने जीव गोसाई को मीरा का गुरु माना है। उनका कहना है कि जब मीरा घर-बार छोड़कर वृन्दावन चली आई तो वहाँ पर वे गोसाई के दर्शन के लिए गई परन्तु उन्होंने एक स्त्री से मिलना अस्वीकार कर दिया। मीरा ने उन्हे प्रतिबोध देते हुए कहा कि मुझे आज ज्ञात हुआ कि गिरिधरलाल के अतिरिक्त भी कोई पुरुष है। इससे जीव स्वामी अत्यन्त प्रभावित हुए और सप्रेम वे मीरा से मिले। तदनन्तर मीरा उनकी शिष्या हो गई। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि एक तो इसका कही उल्लेख नहीं, दूसरे जो मीरा से प्रभावित हुआ था मीरा उसे गुरु क्यों बनाती।

श्री चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों में से एक श्री रघुनाथदास जो वृन्दावन में हरिकीर्त्तन का प्रचार करते थे, मीरा के गुरु कहे जाते हैं। मीरा देवर से सताए जाने पर वृन्दावन गई भी थी और वहाँ से द्वारका चली गई थीं। मीरा ने एक स्थान पर लिखा है—

दास भक्त की दासी मीरा रसना कृष्ण बसे।

दास-भक्त रघुनाथ दास का ही उपनाम था। मीरा ने अनेक स्थलों पर किसी जोगी की चेरी होना तथा उसके वियोग में अपना विकल होना लिखा है परन्तु यह योगी कौन था? यह ज्ञात नही होता। संभवतः इसका प्रयोग कृष्ण के लिए किया है।

मीरा का यह नाम जन्म का ही नाम था क्योंकि उन्होंने स्वयं लिखा है—

मेड़तिया घर जन्म लियो है मीरा नाम कहायो।

परन्तु इसकी व्युत्पत्ति के विषय मे बड़ा मत भेद है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इसे वास्तविक नाम नहीं माना है वरन् फारसी से इसकी व्युत्पत्ति मानकर इसे उपनाम स्वीकृत किया है। मीर शब्द अमीर का छोटा रूप है, जिसका अर्थ सर्दार है। इसी मीर का बहुवचन मीरान् या मीराँ होता है।

कबीर ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है परन्तु उन्होंने सिद्ध फकीर के अर्थ में ही किया है—

सुर नर मुनि जन पीर अवलिया मीराँ पैदा कीन्हा रे।

फारसी के मीर शब्द से इसकी व्युत्पत्ति मानी नहीं जा सकती क्योंकि 'मीरा' का सर्दार अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं। कबीर ने सिद्ध-फकीर के अर्थ में मीराँ शब्द को प्रयुक्त किया है परन्तु वह अर्थ संगत होता हुआ भी यहाँ उचित नही जंचता क्योंकि मीरा का यह बचपन का नाम था और उस समय

वे इतनी बड़ी भक्तिन नहीं थीं कि इन्हें परिवार के लोग सिद्ध फकीर के समान पदवी देते। किसी किसी ने मि+इरा इन दो धातुओं के मेल से इसे बनाया है और मि=समझ कर+इरा=स्थापित करने वाली अर्थात् जो विवेकशीला हो, ऐसा अर्थ किया है। यह व्युत्पत्ति कितनी क्लिष्ट है, भला नाम रखते हुए इतना द्राविड़ प्राणायाम किया गया होगा, यह बात समझ में नहीं आती।

मीरा के साथ जो बाई शब्दांश जुड़ा हुआ है वह पुत्री के अर्थ में प्रयुक्त है। राजपूताना और गुजरात में इसका प्रयोग इस अर्थ में होता है।

रचनाएँ—मीरा की ये रचनाएँ कही जाती हैं—नरसी जी रो माहेरो, गीत गोविन्द की टीका, गीत गोविन्द, राग गोविन्द, राग सोरठ के पद।

इनमें गीत गोविन्द, राग गोविन्द और राग सोरठ के पद ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध नहीं हैं। 'नरसी जी रो माहेरो' नामक ग्रन्थ भी पूरा प्राप्त नहीं वरन् इसका कुछ अंश ही मिला है। इसमे नरसी भक्त की कथा वर्णित है।

वास्तव में इस समय इनके स्फुट पद ही मिलते हैं जो अनेक व्यक्तियों ने विविध स्रोतों से संकलित किये हैं।

मीरा की भक्ति—मीरा बचपन से ही भक्ति-भावना से परिपूर्ण थीं। सम्भवतः किसी पूर्व जन्म के संस्कार ने इनमें इस भावना को बाल्यकाल से ही उद्भूत कर दिया था। ये गिरिधरलाल की मूर्ति से खेला करती थीं, उसी को पति मानती थीं। कहते हैं कि विवाहोपरान्त ये गिरिधर की मूर्ति को भी अपने साथ ले गई थीं। इस भक्ति-भावना को कुछ दैवापतित आपत्तियों ने और भी उत्तेजित किया था। इनकी माता का देहांत तो इनकी बाल्यावस्था में ही हो गया था। किशोरावस्था के प्राप्त होने पर इन्हें पिता, चाचा एवं श्वसुर का भी वियोग देखना पड़ा। परिणय के केवल तीन वर्ष पश्चात् ही लगभग १६-१७ वर्ष की अवस्था में इनके पति का भी निधन हो गया। भारतीय आर्य अबला के लिए इससे भी अधिक दुख और क्या होता? भारतीय नारी के लिए पति की दो आँखें ही प्यार की प्यालियाँ हैं। उनके मुँदने पर माता की सुखद गोद ही विधवा के अविरल अश्रु-प्रवाह को रोका करती है। भीषण विरहाग्नि की भट्टी में दग्ध होती हुई अनाथिनी को सान्त्वनाप्रदायिनी माता की गोद ही हिमशीतल सुधावापी है। किन्तु, हन्त! मीरा को अब वह भी एक स्वप्न की बात हो गई थी। देवर ने उन्हें कोई सहानुभूति न दिखाई प्रत्युत् अनेक कष्ट दिए। अतः अब गिरिधारी के अतिरिक्त उनका कौन थ

अनाथ मीरा संसार से विरक्त हो कृष्ण की मोहिनी मूर्ति को ध्यान में लाती, उससे रीझतीं, उसके ध्यान में डूबती, तल्लीन होतीं, सुरत करती और वैसा ही भक्ति-उन्मादवश प्रलाप करती थीं। मन्दिरों में जाकर नाच-गान करती थीं। संसार में बाह्य या अन्तःसौन्दर्य मनुष्य को आकृष्ट किया करता है। बाह्य सौन्दर्य का आकर्षण भौतिक होता है। अतः स्थायी नही। परन्तु अन्तःसौन्दर्य का आकर्षण अध्यात्म जगत से सम्बन्ध रखता है। अतः स्थायी होता है। यदि आलम्बन मानुषी कलेवर से युक्त न होकर ईश्वरीय शक्ति का परिचायक हुआ या स्वयं ईश्वर का ही दिव्य रूप हुआ तब तो उसके साकार एवं निराकार रूप का सौन्दर्य सदैव स्थायी ही होगा। मीरा की भक्ति का आलम्बन गोपी वल्लभ भगवान् कृष्ण थे, जो भक्ति की लीला दिखाने के लिए अवतरित हुए थे मीरा कृष्ण की मधुर मूर्ति पर ठगी हुई थीं। और वे उन्हें पति मानकर भक्ति करती थी। अतः उनकी भक्ति माधुर्य-भाव की थी। जिस प्रकार गोपियों ने भगवान् से प्रेम किया था और वे उनके रूप-मधु से छकी रहती थीं, मीरा भी उसी प्रकार प्रेम करती थी और निशि-वासर अनन्य भाव से कृष्ण-प्रेम में लीन रहती थीं। उन्होंने एक पद में लिखा है कि वे भगवान् कृष्ण के समय में एक गोपी थीं और एक दिन यमुना किनारे रास-क्रीड़ा करते हुए भगवान् ने उनसे पति होने की प्रतीज्ञा की थी—

रास रच्यो बंसीबट जमुना ता दिन कीनो कौल रे।
पूरब जनम की मैं हूँ गोपिका अधबिच पड़ गयो झोल रे॥

इस बात को वे निम्न पदांश में और भी स्पष्ट करती हैं—

मीरा के प्रभु गिरिधर नागर पुरब जनम को कौल।

सूरदास ने भी ऐसी ही एक बात लिखी है कि गोपियाँ वेद की ऋचाएँ थीं। उन्होंने एक बार भगवान् से विहार करने की इच्छा प्रकट की थी, तब भगवान् ने उन्हें वृन्दावन धाम में रमण करने का वचन दिया था।

मीरा ने कृष्ण के सौन्दर्य, उनकी बाल-लीला एवं उनकी भक्त-वत्सलता सम्बन्धी अनेक पद लिखे है। उनके बाल-सौन्दर्य का कैसा मञ्जुल वर्णन हमें निम्न पद मे मिलता है—

जब से मोहिं नन्द-नन्दन दृष्टि पड्यो माई।
तब से परलोक लोक कछू न सोहाई॥
मोरन की चन्द्रकला सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल तीन लोक मोहै॥
कुण्डल की अलक झलक कपोलन पर छाई।
मानो मीन सरबर तजि मकर मिलन आई॥

कुटिल भृकुटि तिलक भाल चितवन में टोना।
खंजन अरु मधुप मीन भूले मृग छौना॥
सुन्दर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा।
नटवर प्रभु वेष धर रूप अति बिसेखा॥
अधर बिंब अरुन नैन मधुर मंद हासी।
दसन दमक दाड़िम दुति चमके चपला सी॥
छुद्र-घंट किंकिनी अनूप धुनि सोहाई।
गिरिधर के अंग अंग मीरा बलि जाई॥

वास्तव में मीरा की भक्ति कान्ता-भाव की होने के कारण माधुर्य-भाव की है। पत्नी को पति का मोहक रूप ही प्रायः लुभाया करता है और उसकी आसक्ति एवं अनन्यता का प्राथमिक कारण भी वही होता है। उनकी रूपासक्ति सम्बन्धी उक्तियाँ तो स्थान-स्थान पर मिलती हैं। कहीं वे 'चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत' कहकर अपनी परवशता जताती है तो कहीं रूप पर ठगकर 'दरसण कारण भई बावरी' कहकर अपना उन्माद प्रदर्शित करती हैं। कहीं पर वे साँवरे की दृष्टि को प्रेम की कटारी कहती है—

साँवरे की दृष्टि मानो प्रेम की कटारी है।

तो कहीं पर अपने को साँवरे के रूप पर लुभानी बतलाती हैं—

वा मोहन के मैं रूप लुभानी।

भला लुभाए क्यों नहीं, एक तो प्राणप्रिय और उस पर भी जादू-सा करने वाली मधुर मोहक मूर्ति। मीरा ने गिरिधर को देखा, उन्हें उनके सौन्दर्य-सागर मे मदन का मनोहर रूप भी गोता खाता-सा दीख पड़ा। सिर पर मोर मुकुट सुशोभित था, कानों में मकराकृति कुण्डल डोल रहे थे और साँवली सलौनी सूरत पर भाल प्रदेश में तिलक लगा हुआ था। मीरा को पीतम्बर ओढ़े हुए वे रसिक से प्रतीत हुए। उसी समय मन्द-मन्द मुसकराते हुए उन्होंने सुन्दर इन्दीवर-नेत्रों से मीरा को देखा। मीरा ठगी-सी रह गई, उस बाँकी चितवन का तीर उनके हृदय में ऐसा लगा कि फिर निकल ही न सका और सदैव को दुख दे गया।

मीरा कभी कृष्ण के बाल रूप को देखती है, तो कभी उनके गौ-चारण को। कभी उन्हें उनकी मुरली सुनाई पड़ती है तो कभी माखन-चोरी और उपालम्भ याद आते है। तात्पर्य यह है कि उन्होंने रूपमाधुरी, मुरलीमाधुरी, बालक्रीड़ा एवं लीला के अनेक पद गाए हैं। उनके अनेक विनय के पद भी मिलते हैं जिनमें सूर-तुलसी आदि भक्तों की भाँति अपना दैन्य और दुख गाया है तथा गज, गीध, अजामिल और गणिका आदि के उद्धारक भगवान् की भक्तवत्सलता दिखलाई है।

इनकी भक्ति में प्रेम का एकछत्र साम्राज्य है। वे अपने को प्रेमदीवानी कहती हैं। इस दीवानेपन मे उन्होंने सर्प-विप आदि से अनेक कष्ट देने वाले राणा को यह भी न समझा कि वह किस खेत की मूली है। राणा रूठता है तो रूठे पर वे साँवलिया को रुठाना नहीं चाहतीं। उसे तो उन्हे वर रूप में पाना है इसीलिए राणा से वे स्पष्ट कहती हैं—

मेरे राणा जी मैं गोविन्द गुण गाना।
राजा रूठै नगरी राखै, हरि रूठ्या कहँ जाना॥
राणै भेज्या जहर पियाला, अमृत कहिं पी जाना।
डब्बिया में काला नाग भेज्या, सालगराम करि जाना।
मीराबाई प्रेम दिवानी, साँवलिया वर पाना॥

प्रेम मे मग्न व्यक्ति लोक-लज्जा को त्याग देता है, स्वजनों की मर्यादा की उसे चिन्ता नही रहती, समाज-सीमा का भी वह उल्लंघन कर देता है तथा अनेक कष्टों को वह सरलता से सह लेता है। मीरा भी अनेक स्थलों पर लोक-लज्जा, स्वजन-मर्यादा, समाज-बन्धन एवं आपत्तियों की तनिक भी चिन्ता नहीं करती। वे निर्भय होकर बार-बार कहती हैं—

बरजी मैं काहू की नाँहि रहूँ।

* *

लोक लाज कुल काण जगत की दह बहाय जस पाणी।

* *

सीसोद्यो रूठ्यो तो म्हारो कॉई कर लेसी।

* *

नाचन लगी तब घूँघट कैसो लोक लाज तिनका ज्यूँ तोरयो।
नेकी बदी हू सिर पर धारी, मन-हस्ती अंकुस दै मोरयो॥

* *

विष को प्याला राणा जी ने भेज्या पीवत मीराँ हाँसी।

* *

सांप पिटारो राणा जी भेज्यो द्यो मेणतणी गल डार।
हँस हँस मीरा कण्ठ लगायो यों तो म्हारे नौसर हार॥

* *

प्रेमी को चाहिए भी क्या, और कुछ नहीं केवल उसका प्रियतम। मीरा भी उसी को चाहती हैं जिसकी मोहिनी छवि उसके हृदय में गढ़ गई है, जिसकी एक-एक चेष्टा में चेटक रहा हुआ है एवं जिसके नेत्रों में मोहकता, जिसकी वाणी में वशीकरण-शक्ति और स्मृति में आत्म-विस्मृति है।

इस प्रेम की रमक में वे कहीं-कहीं ऐसी आसक्ति-पूर्ण बातें कर गई हैं, कि भक्ति रस से अनभिज्ञ लोगों ने उन पर अश्लीलता का आरोप लगाया है। उदाहरणार्थ एक पद नीचे दिया जाता है—

श्री गिरिधर आगे नाचूँगी।
नाचि नाचि पिव रसिक रिझाऊँ प्रेमी जन को जाचूँगी।
प्रेम प्रीति की बांधि घूँघरू सुरत की कछनी काछूँगी।
लोक लाज कुल की मरजादा या में एक न राखूँगी।
पिय के पलँगा जा पौढूँगी मीरा हरि रँग राचूँगी॥

भक्ति में पतिभाव, पत्नीभाव, दास्यभाव, सख्यभाव या अन्य और भी किसी प्रकार का कोई भाव कोई विशेषता नहीं रखता। यह तो एक सरणी है जिसके द्वारा भक्त अपने आराध्य के पास पहुंचता है। मीरा ने कृष्ण को अपना पति मानकर भक्ति की। अतः यह कोई लौकिक अभिसार नहीं, पूर्ण पुरुष से सायुज्य की वांच्छा है। अतः इसमें अश्लीलता को देखना अपने हृदय की अश्लीलता को दिखाना है।

प्रेम में वियोग की अवस्था बड़ी भीषण होती है। मीरा कृष्ण के रूप में दीवानी तो है, वह उसके प्रेम में अपने को खो भी चुकी है परन्तु वह सलोना अभी मिला नहीं है। अतः वे विरहिणी हैं और उसी रूप मे वे क्लेश पा रही हैं। विरह-वेदना में जो तड़पन और व्याकुलता होती है, मीरा में हमें वह अपने पूर्ण रूप में मिलती है। विरह की अनेक दशाएँ हमें उनके पदों में दृष्टि-गोचर होती हैं। कभी वे उन्हें स्मरण करती हैं, तो कभी उनके गुण गाती है, कभी कीर्त्तन करती हैं तो कभी उनके ध्यान में मग्न हो जाती हैं। कभी उन्मादिनी की भाँति प्रलाप करती है तो कभी अपने दोष कहने लगती हैं। उन्हें घुन लगा हुआ है, वे पीली पड़ गई हैं, अब नींद भी नहीं आती, भूख मारी गई है और विरह रोग इतना बढ़ गया है कि कोई ओषध काम नहीं आती। सूनी सेज उन्हे जहर लगती है, सारी रात सिसक-सिसक कर बीतती है और हृदय धक्-धक् करता रहता है। कभी नींद आ भी जाती है तो सहसा चौंक पड़ती हैं, प्राण निकलने-से लगते हैं। वास्तव में मीरा अत्यन्त विकल हैं परन्तु उनकी वेदना को कोई नहीं जानता—

हेरी मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोइ।

इन शब्दों में कितनी तड़पन है और है कितनी निस्साहाय्यता। आगे वे परवश-सी, निस्सहाय-सी अन्यमनस्क भाव से कहती हैं—

घायल की गति घायल जाणै की जिण लाई होइ।

वास्तव में प्रेम-बाण से विद्ध ही प्रेमी की गति जान सकता है। दिल की लगी को कोई क्या जाने और जानता है तो वही जिसके दिल में लग चुकी है।

मीरा ने अपने प्रेम-प्रदर्शन में रूप-वर्णन एवं विनय के अतिरिक्त अनुराग भी दिखाया है, मिलन की कामना भी प्रदर्शित की है। ज्ञान और वैराग्य के पद भी गाए हैं और संसार-असारता भी दिखलाई है तथा योगिनि बनकर भी वे योगी के पीछे-पीछे फिरी हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने अपने प्रेम को अनेक रूपों में दिखाया है। इनकी विरह-दशा बड़ी करुणा-पूर्ण है।

मीरा कृष्ण की उपासिका होने के नाते [illegible] थी परन्तु इनकी भक्ति-पद्धति से प्रतीत होता है कि इन पर योगी प्रभाव भी था। उदाहरणार्थ नीचे कुछ पदांश उद्धृत किए जाते हैं—

मैंने सारा जंगल ढूँढा रे, जोगीड़ा न पाया।
कानन बीच कुंडल जोगी, गले बीच सेली, घर घर बीच अलख जगाया रे॥

* *

त्रिकुटी महल में बना है झरोखा, तहां से झांकी लगाऊँ री।
सुन्न महल में सुरत जगाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री॥

संभवत: यह प्रभाव इन पर सूफियों द्वारा आया दीख पड़ता है। क्योंकि सूफियों ने भी अपने प्रणयवाद में योग को स्थान दिया था। इनकी प्रणय-पद्धति पर सूफी-प्रभाव स्पष्ट है। क्योंकि इन्होंने अनेक स्थलों पर अपने प्रिय कृष्ण का निराकार की भाँति वर्णन किया है और भक्ति ज्ञानपरक हो गई है। मीरा के अनेक पदों में प्रेम-पीर की जो अभिव्यक्ति हुई है वह सूफियों की ही प्रेम-पद्धति के अनुसार समझनी चाहिए। क्योंकि मीरा की साकारोपासना में रहस्यात्मक निराकारोपासना की झलक पाते हैं और निराकारोपासना में प्रेम-साधना सूफियों की ही देन है। उनकी निराकार की साधना का एक पद नीचे दिया जाता है—

नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहिब पाऊँ री।
इन नैनन मेरा साहिब बसता, डरती पलक न पाऊँ री॥
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा, तहां से झांकी लगाऊँ री।
सुन्न महल में सुरति जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, बार बार बल जाऊँ री॥

देखिए वे अपने प्रियतम को नेत्रों में बसाना चाहती हैं। वह वहीं तो रहता है परन्तु दृष्टि में नहीं आता। अत: वे भृकुटि के मध्य शून्य महल (ब्रह्मरन्ध्र) में ही ध्यान लगाकर उसे पाना और स्मरण करना चाहती हैं।

वे अपने प्रिय के साथ होली खेलना चाहती हैं परन्तु वह होली लौकिक नहीं, रहस्यात्मक है, जिसमें मधुर राग-रागनियों के साथ अनाहत नाद की झंकार होती रहती है, शील और संतोष की उसमें केसर और रोली है तथा प्रेम की पिचकारी है—

फागुन के दिन चार रे, होली खेल मना रे।
बिन करताल पखावज बाजे, अणहद की झनकार रे।
बिन सुर राग छतीसूँ गावे, रोम रोम रँग सार रे।
सील संतोष की केसर रोली, प्रेम प्रीत पिचकार रे॥

इन पदों मे मीरा की साधना कबीर आदि ज्ञानमार्गी सन्तों की-सी दिखाई तो देती है परन्तु कबीर की साधना में ज्ञान की नीरसता है जब कि मीरा की उपासना में प्रेम का माधुर्य। मीरा ने जहाँ भी निराकारोपासना की ओर रुचि दिखलाई है वहाँ प्रेम का ही प्राचुर्य दिखलाई देता है। यह पद्धति सूफियों की है। यद्यपि मीरा वैष्णवी कही जाती है परन्तु उनके निराकार के प्रति प्रेम-प्रदर्शन में हम वैष्णवी पद्धति नहीं मान सकते। क्योंकि वैष्णवी प्रेमोपासना साकार के प्रति ही होती है। यदि कबीर आदि का प्रभाव मानें भी तो भी सूफी प्रभाव तो मानना ही पड़ेगा। क्योंकि कबीर की साधना में भी अधिकांशतः प्रणय सूफियों से ही आया। यदि हम यों कहें कि मीरा की साधना-पद्धति में वैष्णवी, कबीर की एवं सूफी साधना-पद्धतियों का सामञ्जस्य था तो अधिक उपयुक्त होगा।

मीरा की काव्य-कला—मीरा के पद राजस्थानी भाषा में हैं। मीरा कोई जन्मजात या अभ्यासी कवियित्री नहीं थीं। भक्ति के उद्रेक ने उन्हें कवियित्री बना दिया था। भक्ति के आवेश में उनके जो उद्गार निकलते थे वे पद रूप में ही निकलते थे। यही कारण है कि उन्होंने कविता के कलापक्ष पर ध्यान नहीं दिया वरन् भावपक्ष को ही प्रधानता दी है।

इनके सभी पद गेय हैं, जिनमें अनेक राग-रागनियों का प्रयोग हुआ है। मुख्यतः इनकी कविता में तिलंग, ललित, नट, कल्याण, मारू, हमीर, सोरठ, कामोद, गूजरी, खम्माच, पहाड़ी, मालकोष, पटमंजरी, होली सिंदूरा, कलिंगड़ा, मलार, भैरव, जोगिया, बागेश्वरी, सारंग, विहाग, टोड़ी, कान्हड़ा, असावरी, धानी, बिलावल, सोहनी, नीलांबरी, और प्रभात आदि राग प्रयुक्त हुए हैं।

मीरा से पूर्व गीति-काव्य का प्रचार हो गया था। जयदेव ने संस्कृत में गीतगोविन्द की रचना गीति में ही की थी। तत्पश्चात् विद्यापति ने मैथिली, चैतन्य महाप्रभु ने बँगला और कबीर ने सधुक्कड़ी भाषा में यह रचना की थी।

गीतगोविन्द के पद राजस्थान में उस समय गाए जाते थे। चैतन्य महाप्रभु ने विद्यापति से ही प्रेरणा पाई थी। वे उनके पदों को बड़ी तल्लीनता से गाते थे और स्वयं भी पद बनाते थे। वे वृन्दावन मे आए थे और रघुनाथ दास आदि अपने कुछ शिष्यों को कृष्ण-कीर्त्तन के प्रचारार्थ वहाँ छोड़ गए थे। मीरा रघुनाथ दास की शिष्या थी ही। वे लोग चैतन्य महाप्रभु के शिष्य होने के नाते कीर्त्तन गेय पदों मे ही करते थे। अतः मीरा ने भी उनके संसर्ग में राग-रागनियों को सीखा होगा। इसके अतिरिक्त विविध स्थानों में हरि-भक्तों के सम्पर्क ने भी इनके राग-सम्बन्धी ज्ञान को परिवर्द्धित किया होगा। कुछ त्रुटियों के होते हुए भी इनके रागों की योजना अच्छी हुई है।

कहा जा चुका है कि इन्होंने कविता कविता की दृष्टि से नहीं की। अतः उसमें अलंकारों का विधान सुचारु नही है परन्तु फिर भी स्वभावतः उपमा, उत्प्रेक्षा एवं अनुप्रास आदि अलंकार अपने सुन्दर रूप में व्यवहृत हुए ही हैं, यथा—

कुंडल की अलक झलक कपोलन पर छाई।	(अनुप्रास और
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई॥	उत्प्रेक्षा)
दसन दमक दाड़िम दुति चमके चपला सी।	(उपमा)
ज्ञान चौसर मँडी चोहटे, सुरत पासा सार।	(रूपक)

इनके सभी पद अन्त्यानुप्रास से युक्त है।

मीरा की रचना मे दो रस पाए जाते है—शृंगार और शान्त। शृंगार के वियोग पक्ष का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है। इसमें अपनी ही वियोग दशा का वर्णन होने के कारण स्वानुभूति ने चौगुना रंग चढ़ा दिया है। मीरा की रति के आलम्बन कृष्ण है और उनके सौन्दर्य ने उसे उद्दीप्त किया है।

माधुर्य और प्रसाद गुण की बड़ी सुन्दर योजना इनकी कविता में हुई है। यद्यपि कहीं-कही न्यूनपदत्व, अधिक पदत्व और ग्राम्यत्व दोष दिखलाई देते हैं परन्तु वे अधिक नही है।

इनकी भाव-व्यंजना तो अनुपम है। स्त्री होने के कारण उसमें कबीर से भी अधिक स्वाभाविकता और मार्मिकता है। राजस्थानी भाषा होने के कारण मूर्धन्य अक्षरों का प्रयोग अधिक है फिर भी माधुर्य और प्रसाद गुणों को कोई हानि नही पहुँची है और न रसाभिव्यक्ति मे कोई बाधा पड़ी है। कहीं-कहीं अनुप्रास के लिए शब्दों को बिगाड़ा भी बहुत है, जैसे—आँखड़ियाँ (आँखों में), पासड़ियां (पाश), दासड़ियाँ (दासी) और सासड़ियाँ (श्वास) आदि। परन्तु ऐसा कम ही हुआ है और हुआ भी है तो मधुरता एवं कोमलता अधिक बढ़ गई है।

तुलसीदास

भक्तशिरोमणि महाकवि तुलसीदास स्वामी रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा मे हुए। आठवी शताब्दी में स्वामी शंकराचार्य ने अद्वैत का प्रतिपादन किया था और उन्होंने इस मत का प्रचार बड़ी प्रखरता से किया। उत्तरी भारत मे प्रचलित शैव मत के आराध्य शिव को ब्रह्म का रूप देकर इन्होंने शिवाराधन का महत्व बढ़ा दिया। वैष्णव मत ह्रास को प्राप्त हो गया और अधिकांशत: दक्षिण में अलवार-नरेशों एवं ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपालित होता रहा। विक्रम की १२वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य ने पुन: इसे उत्तरी भारत में उज्जीवित किया। कारण यह था कि शंकराचार्य ने जिस अद्वैत का प्रचार किया था उसके अनुसार एक अलक्ष्य निर्गुण ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह दृश्य जगत् मिथ्या है और यह ब्रह्म भी ध्यानगोचर है। यह ध्यानगोचरता भी भेदवृत्ति का अभाव हो जाना है न कि किसी का साक्षात्कार या मिलन। यह सिद्धांत मुस्लिम राज्य में आपन्नहृदय हिन्दूवर्ग को किस प्रकार सान्त्वना दे सकता था। भला भूखे को केवल काल्पनिक व्यंजन-चर्चा से कभी परितुष्टि हुई है! इस समय तो एक ऐसे ईश्वर की आवश्यकता थी जो लोकजन-रंजन हो और विपञ्जन-रक्षक हो तथा जो संसार में अवतार ले मर्माहत पीड़ित जनता के प्राणों पर अवलेपन करता हो, न कि ऐसे ब्रह्म की जिसकी सत्ता का भी निश्चय न हो तथा ध्यान में भी किसी रूप में परिलक्ष्य न हो। शांकर मत से शैव मत को तो बल मिला ही था, इससे नाथ मतानुयायियों को भी बड़ा बल मिला। नाथपंथियों ने शांकर अद्वैत एवं हठयोग को अपनाया था। कुछ समय तक इस मत का बड़ा प्रचार हुआ और वैष्णवी भावना लुप्तप्राय-सी हो गई। हिन्दू जनता का हृदय घुटने लगा क्योंकि आकाशकुसुमवत् उन्हें निरालम्ब अवलम्बन से कोई आशा न बँधती थी, सान्त्वना न मिलती थी। अत: उसका क्षुब्ध मानस बाँध तोड़ गया और उमड़कर उधर बह गया जहाँ उसे पर्याप्त आश्रय मिला और खप कर समा सका।

उपर्युक्त प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप अद्वैत के प्रतिरोधार्थ निम्न चार वैष्णव सम्प्रदाय उठ खड़े हुए—

समय	संस्थापक	मत	सम्प्रदाय
१२वीं शती	रामानुजाचार्य	विशिष्टाद्वैत	श्री सम्प्रदाय

१३वीं शती	मध्वाचार्य	द्वैत	ब्रह्म सम्प्रदाय
१३वीं शती		शुद्धाद्वैत	रूद्र सम्प्रदाय
१३वीं शती	निम्बार्काचार्य	द्वैताद्वैत	सनकादि सम्प्रदाय

इनमें से मध्वाचार्य ने विष्णुरूप ब्रह्म एवं अन्तिम दो ने कृष्ण ब्रह्म की उपासना पर विशेष बल दिया। केवल रामानुजाचार्य ही ऐसे हुए जिन्होंने वैष्णव धर्म का प्रचार करते हुए रामोपासना का महत्व स्वीकार किया। क्योंकि रामानुजाचार्य के पाँच पीढ़ी पूर्व हुए, इनके सिद्धांतों के मूल प्रवर्त्तक शब्दोपाचार्य ने 'सहस्रगीति' नामक पुस्तक में लिखा था कि मैंने दाशरथि राम के अतिरिक्त अन्य की शरण नहीं ली है। अतः इस परम्परा के भक्तानुभक्त राम के ही उपासक हुए। स्वयं रामानुजाचार्य के शिष्य कुरेशस्वामी ने 'पंचस्तवी' मे राम की भक्ति प्रदर्शित की है। इसी परम्परा में राघवानन्द जी के सुशिष्य रामानन्द जी हुए।

रामानुजाचार्य ने द्विजों को ही शिक्षा देने का अधिकार दिया था परन्तु रामानन्द ने भक्ति के क्षेत्र मे देश, जाति एवं वर्ण आदि में कोई भेद नहीं रक्खा। इन्होंने वैरागी सम्प्रदाय स्थापित किया, जिसमें ऊँच-नीच के भेदभाव के बिना कोई भी सम्मिलित हो सकता था। परन्तु इसे यह नहीं समझना चाहिए कि स्वामी रामानन्द वर्ण-व्यवस्था के विरोधी थे। वे वर्ण-व्यवस्था समाज में ही मानते थे किन्तु उपासना के क्षेत्र मे इसे महत्व नहीं देते थे। यही कारण था कि जुलाहा कबीर, चमार रैदास तथा नाई सेना भी इनके भक्तों में उच्च स्थान रखते थे।

इन्ही रामानन्द जी की शिष्य परम्परा में भक्तप्रवर तुलसीदास हुए। इस कविपुंगव के विषय में भी हमे अनेक बातों के लिए परमुखापेक्षी अथवा कपोल-कल्पनाश्रित रहना पड़ा है। तुलसीदास-कृत ग्रन्थों के आधार पर तुलसीदास के जीवन एवं जीवनकाल के सम्बंध में जिन बातों का पता चलता है, वे नीचे लिखी जाती है।

अन्तःसाक्ष्य—विनयपत्रिका के अनुसार ये उच्च कुल एवं जाति के थे—

दियो सुकुल जनम सरीर सुनर, हेतु जो फल चारि को।

विनयपत्रिका में एक स्थान पर इन्होंने अपना नाम रामबोला लिखा है और कवितावली में तुलसी—

राम को गुलाम नाम राम बोला राख्यो राम। (विनयपत्रिका)
नाम तुलसी पै भोंड़े भाग सो कहायो दास। (कवितावली)

इनके पिता का नाम इनकी रचनाओं से ज्ञात नहीं होता परन्तु मानस के अनुसार इनकी माता का नाम हुलसी था। माता-पिता से परित्यक्त हो इन्होंने भिक्षाटन भी किया था, ऐसा कवितावली एवं विनयपत्रिका से स्पष्ट प्रतीत होता है—

मातु पिता जग जाप तज्यो विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच निरादर भाजन कादर कूकर टूकनि लगि ललाई। (कवितावली)

द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूं।
तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूं। (विनयपत्रिका)

मानस से संकेत मिलता है कि इनके गुरु का नाम नरहरि था और इन्होंने शूकर क्षेत्र में रामकथा सुनी थी—

बन्दौं गुरुपद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि।
मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत। (मानस)

विनयपत्रिका, दोहावली एवं कवितावली से प्रतीत होता है कि वे काशी में रहते थे क्योंकि इनमें इस स्थान का सफलपूर्वक अनेकशः नाम आया है। कवितावली एवं दोहावली में अपनी किसी पीड़ा की शान्ति के लिए प्रार्थना की गई है। दोहावली एवं बाहुक से जान पड़ता है कि इनके बाहुपीड़ा थी। विनयपत्रिका से कलियुग के प्रभाव के मिस तत्कालीन दुरवस्था एवं अत्याचारों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उस समय राजनैतिक वातावरण बड़ा अस्त-व्यस्त था। जीविकोपार्जन कठिन था, यहाँ तक कि भिखारी भीख भी नहीं पाता था। सर्वत्र पाखण्ड फैल रहा था तथा दोष और दण्ड दोनों ही प्रबल थे।

रचनाकाल के विषय में रामाज्ञाप्रश्न से ज्ञात होता है कि उसकी रचना सं० १६२१ में हुई—

सगुन सत्य ससि नयन गुन अवधि अवधि नय बान।
(ससि = १, नयन = २, गुन = ६ (३), नय = ४, बान = ५)

नय और बान का अंतर १ है। अतः अंकविपर्यय से १६२१ सं० हुआ।

पार्वतीमंगल की रचना के विषय में कवि लिखता है—

जय संवत् फागुन सुदि पांचइ गुरु दिनु।
अस्विन बिरचेउँ मंगल सुनि सुख छिनु छिनु॥

जय बार्हस्पत्य वर्ष प्रणाली का एक वर्ष है। इसकी गणना दो प्रकार से होती है—दक्षिणी रीति के अनुसार और उत्तरी रीति के अनुसार। दक्षिणी रीति पर कवि ने कहीं कोई तिथि नहीं दी। उत्तरी गणना से यह

वर्ष कवि के जीवन में एक बार आता है और वह सं० १६४२ में। अतः सं० १६४२ ही इस कृति का रचना-काल है।

मानस के अनुसार उसकी रचना सं० १६३१ में चैत्र शुक्ला नवमी, मंगलवार को प्रारम्भ हुई—

संवत् सोलह सौ इकतीसा। कहउँ कथा हरि पद धर सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा।

उपरिलिखित अन्तःसाक्ष्य के अतिरिक्त तुलसीदास के समकालीन एवं परवर्ती लेखकों की रचनाओं से भी उनके जीवन-चरित्र पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। इस बहिःसाक्ष्य में निम्नलिखित कृतियाँ प्रमुख हैं--

(१) गोसाईं गोकुलनाथ कृत दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता (सं० १६२५) (सदिग्ध)
(२) नाभादास कृत भक्तमाल (सं० १६४२)
(३) बाबा बेणीमाधवदास कृत गोसाईं चरित (सं० १६८७)
(४) बाबा रघुवरदास कृत तुलसी चरित
(५) प्रियादास कृत भक्तमाल की टीका (सं० १७६६)

दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता के अनुसार तुलसीदास नन्ददास के बड़े भाई थे। नन्ददास ब्रज में रहते थे और तुलसीदास काशी में। तुलसी ने भाषा में रामायण लिखी। एक बार तुलसीदास ब्रज में गए और नन्ददास जी से मिले तथा गोसाईं विट्ठलनाथ के भी दर्शन किए।

भक्तमाल से विदित होता है कि तुलसी बाल्मीकि के अवतार थे और इन्होंने लोकहितार्थ भाषा मे रामायण की रचना की।

गोसाईं चरित्र में बेणीमाधवदास ने तिथिक्रम से अनेक बातें लिखी हैं। इसमे तुलसीदास की जन्मतिथि सं० १५५४ श्रावण शुक्ला सप्तमी, रामचरितमानस की समाप्ति-तिथि सं० १६३३ मार्गशीर्ष शुक्ला पञ्चमी और मृत्युतिथि सं० १६८० श्रावण कृष्णा तृतीया दी हुई है। इसमें से जन्मतिथि ठीक नहीं है क्योंकि यह तिथि न विगत सं० वर्ण-प्रणाली पर ठीक उतरती है और न वर्तमान सं० वर्ण-प्रणाली पर। इसके अनुसार सं० १६१६ में सूरदास तुलसीदास से मिलने गए थे। इसमें नन्ददास को तुलसीदास का गुरुभाई माना है तथा इनकी विट्ठलदास से भी भेंट लिखी है। इस ग्रन्थ मे तुलसीदास का सम्पूर्ण जीवन-चरित्र लिखा है परन्तु बहुत-सी बाते मान्य नही। क्योंकि यह ग्रन्थ सर्वांश में प्रामाणिक नहीं है। उदाहरणतः इसमे लिखा है कि सूरदास गोकुलनाथ का पत्र लेकर तुलसीदास से सं० १६१६ में मिले थे। गोकुलनाथ

का जन्म सं० १६०८ में हुआ था इस प्रकार सूरदास को पत्र देते समय गोकुलनाथ की अवस्था आठ वर्ष की थी, जो असम्भव है। इसी प्रकार रामचन्द्रिका का रचना काल इसमें सं० १६४३ दिया हुआ है, जबकि स्वयं केशवदास ने रामचन्द्रिका में ही उसका रचनाकाल सं० १६५८ लिखा है।

तुलसीचरित्र में भी बड़ी विलक्षण बातें लिखी है, यहाँ तक कि तुलसी के तीन तो विवाह लिखे हैं। यह ग्रन्थ तुलसी के जीवन-चरित्र के विपय में मान्य नहीं।

प्रियादास कृत भक्तमाल की टीका में तुलसीदास के सम्बन्ध में अनेक अलौकिक बातें लिखी हैं जो मान्य नहीं। इसके अनुसार तुलसीदस ने एक प्रेत की सेवा कर उसको प्रसन्न किया और उसी के द्वारा हनुमान के दर्शन किए तथा हनुमान द्वारा राम-दर्शन पाए। एक बार कुछ चोर उनके घर चोरी करने आए परन्तु उन्हें द्वार पर राम-लक्ष्मण प्रहरी के रूप में दीख पड़े। वे एक बार एक मृतक व्यक्ति को भी जीवित करते है तथा ब्रज मे जाकर कृष्ण की मूर्ति को राममूर्ति में परिवर्तित करते हैं। यह ग्रन्थ भी इस सम्बन्ध में मान्य नहीं।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक जनश्रुतियाँ भी इनके विषय में प्रसिद्ध हैं। इन्हें कोई सोरों वासी कहता है तो कोई राजापुर वासी। पत्नी-प्रेम एवं उनके द्वारा उद्बोधन की कथा भी बड़ी प्रसिद्ध है।

फलित—अन्तःसाक्ष्य और बाहिःसाक्ष्य का पूर्णतः पर्यालोचन करके विद्वानों ने जो निष्कर्ष निकाला है वह इस प्रकार है—पं० रामगुलाम द्विवेदी आदि विद्वानों के अनुसार इनका जन्म सं० १५८६ में राजापुर ग्राम में हुआ था। इस जन्म सं० के विषय मे हाथरस वाले तुलसी साहित्य का आत्मोल्लेख भी प्रमाणभूत है। इनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी था। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। ये अभुक्त मूल नक्षत्र में उत्पन्न हुए थे तथा कलेवर पंचमासिक बालक के समान था और कुछ दाँत भी निकले हुए थे। अतः माँ-बाप ने इन्हे अशुभ प्राणी जानकर त्याग दिया। उत्पन्न होते ही वे राम नाम बोले थे अतः इनका नाम रामबोला पड़ गया। माता ने इन्हे एक दासी को दे दिया जो अपने साथ ससुराल ले गई। पाँच वर्ष तक उसने इनका लालन-पालन किया परन्तु जब उसका देहावसान हो गया तो बाबा नरहरिदास ने उन्हें शरण दी। बाबाजी इन्हें काशी ले गए, वहाँ पर इन्हें सन्त सनातनदास के संरक्षण में छोड़ दिया। उन्हीं महात्मा से इन्होंने वेद-वेदांग की शिक्षा प्राप्त की। विद्याध्ययन के अनन्तर ये अपने गाँव चले आए। यहाँ उनका विवाह

विद्योत्तमा नामक एक ब्राह्मण-कन्या से हुआ। कहते हैं ये अपनी पत्नी से अत्याधिक प्रेम करते थे। एक दिन स्त्री इनकी अनुपस्थिति म मायके चली गई। जब सन्ध्या समय वे घर लौटे और सारी बात विदित हुई तो ये भी उसी रात स्त्री के पास चल दिए। मार्ग की विषमताओं को पार करते हुए दीवार को लांघकर जब ये पत्नी के पास पहुँचे तो विद्योत्तमा को बड़ी लज्जा आई। वह धिक्कारते हुए बोली कि जितना प्रेम मेरे अस्थि-चर्ममय शरीर से है उतना यदि भगवान् से होता तो यह भवभीति विषम-बाधा उपस्थित न करती और तुम्हे मुक्ति-लाभ होता। स्त्री के इ। वचनों ने उनके हृदय पर बड़ा प्रभाव किया और विरक्त हो वहाँ से काशी चले गए। वहाँ से अयोध्या होते हुए ये चारों धामों की यात्रा के लिए चल दिए। तदनन्तर कुछ समय तक इन्होने चित्रकूट-वास किया। सं० १६३१ में ये अयोध्या गए और वहाँ रामचरितमानस का निर्माण प्रारम्भ किया और २ वर्ष ७ मास में उसे समाप्त किया। मानस की समाप्ति से पूर्व ये काशी से चले गए थे और पुन: वे प्राय: काशी मे ही रहे।

इनकी मृत्यु तिथि के विषय में एक जनश्रुति है—

संवत सोलह सौ असी असी गंग के तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी तुलसी तजो शरीर॥

अर्थात् सं० १६८० की श्रावण शुक्ला सप्तमी को तुलसीदास ने शरीर-त्याग किया। मूल गोसाईं-चरित में श्रावण कृष्णा तृतीया दिन शनिवार लिखा है—

संवत सोलह सै असी असी गंग के तीर।
सावन स्यामा तीज शनि तुलसी तजो शरीर॥

गोसाईं चरित की तिथि ठीक है क्योंकि गणना से भी यह तिथि ठीक बैठती है तथा तुलसीदास के मित्र टोडरमल के वंशज इसी तिथि को कवि की स्मृति में सीधा देते है और वर्षी मनाते हैं।

तुलसीदास का नन्ददास से कोई संबंध न था, उपर्युक्त जिन ग्रन्थों मे ऐसा लिखा है वह स्वसम्प्रदाय के माहात्म्य के प्रदर्शनार्थ ही लिखा है।

रचनाएँ—विविध विद्वानों एवं ग्रन्थों के आधार पर तुलसीदास कृत सभी रचनाओं की संख्या ३७ है। इनमें १३ ग्रन्थ तो प्राय: सभी विद्वान् प्रामाणिक एवं तुलसीकृत ही मानते है और शेष २४ अप्रमाणिक।

प्रमाणिक रचनाएँ निम्नलिखित है—

(१) रामलला नहछू ✓(२) वैराग्य संदीपिनी
(३) बरवै रामायण (४) पार्वतीमंगल

(५) जानकीमंगल (६) रामाज्ञाप्रश्न
(७) दोहावली (८) कवितावली
(९) गीतावली (१०) कृष्ण गीतावली
(११) विनयपत्रिका (१२) रामचरितमानस
(१३) सतसई

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके लिखे निम्न २४ ग्रंथ और कहे जाते हैं–

(१) अंकावली (२) बजरंग बाण (३) बजरंग साठिका
(४) भरतमिलाप (५) विजयदोहावली (६) बृहस्पति कांड
(७) छंदावली रामायण (८) छप्पय रामायण (९) धर्मराय की गीता
(१०) ध्रुव प्रश्नावली (११) गीताभाषा (१२) हनुमान स्तोत्र
(१३) हनुमान चालीसा (१४) हनुमानपंचक (१५) ज्ञानदीपिका
(१६) पदबंद रामायण (१७) राम मुक्तावली (१८) रसभूषण
(१९) साखी तुलसीदास जी की (२०) संकट मोचन
(२१) सतभक्त उपदेश (२२) तुलसीदास जी की बानी
(२३) सूर्य पुराण (२४) उपदेश दोहा

ये ग्रन्थ पर्यालोचन के पश्चात् तुलसीकृत सिद्ध नहीं हुए हैं। अतः प्रथम १३ ग्रन्थ ही तुलसी निर्मित हैं। जानकीमंगल, रामाज्ञाप्रश्न, गीतावली विनयपत्रिका और रामचरितमानस की प्रतियाँ तो कवि के जीवनकाल की मिली हैं। अतः उनके प्रामाणिक होने में तो कोई संदेह ही नहीं। कुछ लोगों के कथानुसार रामाज्ञाप्रश्न संदेहास्पद है क्योंकि उसमें शैली का शैथिल्य है तथा राम और परशुराम का मिलन जनकपुर से लौटते हुए मार्ग में होता है। परन्तु ये कोई ऐसे कारण नहीं जिनसे इस कृति को अप्रामाणिक माना जाए क्योंकि यह कवि की प्राथमिक रचनाओं में से है तथा राम-परशुराम मिलन की यह घटना 'जानकीमंगल' और 'गीतावली' में भी इसी प्रकार मिलती है और वे दोनों ग्रन्थ निस्सन्देह तुलसीकृत हैं।

कतिपय व्यक्ति रामललानहछू की प्रामाणिकता में इसलिए संदेह करते है कि उसमे उत्तान शृंगार का वर्णन है। दशरथ निम्न जाति की स्त्रियों के शृंगार एवं चेष्टाओं पर मुग्ध होते हैं और यह तुलसी की लेखनी से असम्भव था। परन्तु एक प्रति ऐसी भी मिली है जिसमें यह अंश नहीं है। अतः उसे प्रक्षिप्त भी माना जा सकता है और न माना जाए तो भी कोई बात नहीं। क्योंकि वह तो आनन्द मग्न व्यवहारी स्त्रियों के व्यवहार का वर्णन है जो राजा को भी प्रमुदित कर रहा है।

'बरवै रामायण', 'दोहावली', 'कवितावली' और 'कृष्ण गीतावली' में भी कुछ सन्देहास्पद स्थलों को देखकर अनेक व्यक्तियो ने इनकी प्रामाणिकता में सन्देह किया। बरवै रामायण के आरम्भ में जो शृंगारिक वर्णन है, वह प्रक्षिप्त-सा जान पड़ता है। एक प्रति में वह पाठ है भी नहीं। दोहावली की अनेक प्रतियों में पाठ भेद होने से सन्देह को स्थान मिला परन्तु यदि इस ग्रन्थ का ध्यानपूर्वक सम्पादन किया जाय तो प्रक्षिप्त अंश निकाला जा सकता है। कवितावली में शिवसिंह सेंगर के अनुसार कुछ छन्द भृंग कवि संकलित हो गये है। इस ग्रन्थ की प्रतियों में भी पाठभेद बहुत हैं। यदि इसका सम्पादन भी सावधानी से किया जाए तो ये अंश निकल सकते है। कृष्ण-गीतावली मे विवाद का कोई प्रमुख कारण नहीं है।

इनके अतिरिक्त पार्वतीमंगल के प्रामाणिक होने में तो कोई सन्देह ही नहीं। हां, 'वैराग्य संदीपनी' और 'सतसई' की प्रामाणिकता में सन्देह है। क्योंकि वैराग्य संदीपिनी की शैली आदि तुलसी की नहीं जान पड़ती। इसी प्रकार सतसई के अनेक दोहे तुलसी की छाप से अंकित नही हैं तथा उनमें दी हुई रचनातिथि भी ठीक नहीं। अब उपर्युक्त रचनाओं के वर्ण्य-विषय पर तनिक दृष्टिपात किया जाता है।

रामलला नहछू में २० सोहर छन्दों में राम के किसी शुभ सँस्कार पर नहछू वर्णित है। कर्णवेध, यज्ञोपवीत या विवाह से पूर्व बालक के चौक बैठने पर नाइन उसके पैरों में महावर लगाती है और नहरनी से पैर के नखाग्रों को इस प्रकार छुआती है मानो वह नख-कर्त्तन कर रही हो। उस समय वह तथा अन्य स्त्रियाँ मांगलिक गीत भी गाती है। यह प्रथा अवध प्रान्त में प्रमुखतः प्रचलित है। इस प्रथा को नहछू कहते है। यद्यपि दूलह आदि शब्दों के कारण यह नहछू राम के विवाहोत्सव पर ही गाया माना जाता है परन्तु यह ठीक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि राम का विवाह सरसा मिथिला में निश्चित हुआ था। अतः वहाँ कौशल्या तो थी ही नहीं तथा इस नहछू मे अयोध्या में ही इसका सम्पादन वर्णित है। यह ग्रन्थ अवधी भाषा में लिखा है। इसमे उत्तान शृंगार कुछ खटकता है।

वैराग्य संदीपिनी—दोहे-चौपाइयों में लिखा एक छोटा-सा ग्रन्थ है। इसमें कुल ६२ छन्द हैं। इसमें प्रथम सन्त-स्वभाव का वर्णन है, पुनः सन्त-महिमा गाई गई है और तदनन्तर शांति का माहात्म्य बतलाया गया है। इस ग्रन्थ की शैली एवं छन्द-योजना बड़ी शिथिल है और तुलसी जैसी प्रतीत नहीं होती। इसमें कुछ भाव निश्चित ही कबीर से लिए हुए है, यथा—

तुलसी— तुलसी जाके बदन तें, धोखेउ निकसत राम।
ताके पग की पगतरी, मेरे तनु को चाम ॥

कबीर— सुपनेहुं में बरांइ रे, धोखेहुं निकरे नाम।
वाके पग की पैतरी, मेरे तन को चाम ॥

तुलसी—भगत सुक्य भलो।
कबीर—भक्ता भला चमार।

बरवै रामायण भी अवधी का एक छोटा-सा ग्रन्थ है जो साठ काण्डों मे विभक्त है। इसमें ६९ बरवै शब्दों में सूक्ष्मतः रामकथा वर्णित है। तुलसीदास ने इसकी रचना कथा-क्रम से सोचकर नहीं की। ज्ञात होता है कि रचनोपरांत उन्होंनें ही या उनके किसी भक्त ने इसका संकलन किया। इस ग्रन्थ के आरम्भ में जो शृंगारिक वर्णन है वह तुलसीकृत प्रतीत नहीं होता, ऐसा किसी-किसी का कथन है। इसके कुछ भावों को परवर्ती कवियों ने ग्रहण किया है, यथा—

तुलसी— केस-मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हरथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत ॥

रहीम— मुकुत हार हरि के हिये, मरकत मनिमय होत।
प्रति पावत रुचि राधिका मुख मुसकानि उदोत ॥

तुलसी— चंपक-दरवा अंग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हिंयरे जब कुंभिला ॥

बिहारी— रंच न लखिपत पहिरिए, कंचन से तन बाल।
कुम्हिलाने जानी परै, उर चंपे की माल ॥

पार्वतीमंगल—में शिवपार्वती के विवाह का वर्णन है। यह ग्रन्थ भी शुद्ध अवधी ग्रन्थ है जो १६४ छन्दों मे समाप्त हुआ है जिसमें १४८ सोहर के तुक हैं और १६ बीच-बीच में आए हरिगीतिका छन्द हैं। इसपर महाकवि कालिदासकृत 'कुमार सम्भव' का बड़ा प्रभाव दीख पड़ता है क्योंकि अनेक स्थलों पर उसका अनुवाद-सा दीख पड़ता है, यथा—

प्रत्यर्थि भूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोनुमेने।
विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीरा ॥

(कुमार संभव)

गुनरूप जोवन सींव सुन्दरि निरखि छोभ न हर हिए।
ते धीर अछत विकार हेतु जे रहत मनसिज बस किए ॥

(पार्वती मंगल)

परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है कि शृंगारिक वर्णन में तुलसीदास ने कालीदास की भाँति मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया है। वे यह नहीं भूल

सके है कि शिव-पार्वती उनके आराध्य है जबकि कालीदास यह भूल गए और पार्वती का अमर्यादित शृंगारिक वर्णन कर गए।

जानकीमंगल भी पार्वती मंगल की भाँति अवधी की एक प्रौढ़ रचना है। इसमें भी उसी की शैली पर सोहर और हरिगीतिक छन्दों मे सीता और राम का विवाह वर्णित है। इसमें २१६ छन्द हैं और आठ सोहर के पश्चात् एक हरिगीतिका दिया हुआ है। इसकी कथा में रामचरितमानस से कुछ विभिन्नता है। रामचरितमानस में राम-सीता पुष्पवाटिका में एक दूसरे को देखते हैं जबकि इसमें कथा का आरम्भ धनुपयज्ञ से होता है। धनुष का तोड़ना भी विश्वामित्र की आज्ञा के उपरान्त नहीं वरन् जनक के सन्देह प्रदर्शित करने द्वारा उनकी महिमा के गाने के उपरांत ही हुआ है। रामचरितमानस की भाँति राम-परशुराम-मिलन धनुषयज्ञ में नही वरन् जनकपुर से अयोध्या लौटते हुए मार्ग मे हुआ है।

रामाज्ञाप्रश्न ३४३ दोहों में समाप्त हुआ है। इसमें रामकथा सात सर्गों में वर्णित है और प्रत्येक सर्ग में दोहों के सात-सात सप्तक हैं। इसके अनेक दोहे तुलसीदास ने अपने अन्य ग्रंथों से लिए है। इसकी शैली मे पर्याप्त शैथिल्य है तथा जानकीमंगल की भाँति इसमे भी राम-परशुराम-मिलन विवाहोपरांत अयोध्या के मार्ग में ही हुआ है। इसके अन्तिम सप्तक मे शकुन-विचार है।

दोहावली नीति, भक्ति, नाममाहात्म्य तथा ज्ञान के दोहों का सुन्दर संग्रह है। इसमे ५५० दोहे और बीच-बीच में २३ सोरठे है। इसके बहुत से दोहे रामाज्ञाप्रश्न, वैराग्य संदीपिनी और रामचरितमानस में भी मिलते हैं। सम्भवतः दोहों का निर्माण क्रम से नही हुआ प्रत्युत उनकी अक्रम रचना के पश्चात् कभी उन्होने या उनके किसी भक्त ने इनका संकलन किया।

कवितावली में सात काण्डों में रामचरित वर्णित है। यह ग्रंथ ब्रजभाषा का है तथा इसमें सवैया, कवित्त, छप्पय, घनाक्षरी एवं झूलना छंदों का प्रयोग हुआ है। इसकी रचना भी क्रमशः नहीं हुई वरन् अक्रम रचना के पश्चात् संकलन हुआ प्रतीत होता है। इसमें कई स्थानों पर भाट-शैली दृष्टिगोचर होती है। बाहुपीड़ा से पीड़ित होने पर लिखे गए हनुमानवाहुक को इन्होंने परिशिष्ट के रूप में इसके अन्त में जोड़ दिया है। इस ग्रन्थ में ब्रजभाषा का सुन्दर माधुर्य आस्वाद करने को मिलता है। शब्दयोजना बड़ी मधुर एवं शैली अत्यंत मनोहारिणी है।

गीतावली की रचना शुद्ध ब्रजभाषा में हुई है। इसमें सात काण्डों में रामकथा ३२८ पदों में वर्णित है। इसमें अनेक राग-रागनियों का प्रयोग हुआ

है तथा इस पर सूर के सूरसागर का प्रभाव स्पष्ट है। अनेक पद तो सूरसागर की प्रतिलिपि मात्र हैं, जिनमें सूर के स्थान पर तुलसी और स्याम के स्थान पर राम का व्यवहार हुआ है। कुछ शब्दों मे अन्तर अवश्य हो गया है परन्तु भाव वैसा ही है। इस ग्रन्थ में राम की बाल-क्रीड़ा का वर्णन विस्तार से हुआ है परन्तु तुलसी सूर को नहीं पा सके हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई बालक किसी प्रौढ़ पुरुष द्वारा स्थापित स्तम्भ पर चढ़ने का प्रयत्न कर रहा है। सूर का जादू तो हुआ परन्तु सिर पर चढ़कर न बोल सका। परन्तु फिर भी पदों में मञ्जुलता, मधुरता एवं सरसता सूर से कम नहीं है। इस विषय मे सूर पण्डित तुलसी के समक्ष बौने से दीख पड़ते हैं, यद्यपि सूर के सौन्दर्य एवं मुरली-माधुरी सम्बन्धी पद बड़े सरस है परन्तु वे थोड़े ही है। इसमे बालरूप वर्णन, चित्रकूट वर्णन एवं उत्तरकांड में राम-रूप-वर्णन बड़े मनोरम हैं।

कृष्णगीतावली में ६१ पदों में श्रीकृष्ण का चरित्र लिखा हुआ है। यह ग्रन्थ भी ब्रजभाषा का ग्रन्थ है और इस पर तो सूर की मुद्रा स्पष्ट अंकित है। यह काव्य प्रबन्ध रूप मे नही लिखा गया वरन् इसमें स्फुट रूप से कृष्ण की कुछ लीलाओं, गोपी-विरह, गोपी-उद्धव-संवाद और भ्रमरगीत की कथा वर्णित है। यह ग्रंथ भी बड़ा सरस है।

सतसई दोहों का संग्रह है, जिसमें से अनेक दोहे तुलसीकृत प्रतीत नहीं होते। अतः अनेक विद्वान् इसे तुलसी निर्मित नहीं मानते।

तुलसीदास को अमरकीर्ति दिलाने वाले दो ही ग्रन्थ हैं—विनयपत्रिका और रामचरितमानस।

विनयपत्रिका भक्ति का ग्रन्थ है जिसमें ज्ञान एवं कर्म को भक्ति-साधना मे साधन माना है। तुलसी राम के अनन्य भक्त थे और वे राम-नाम को निखिल मंत्र शिरोमणि एवं राम को सर्व देवोपरि समझते थे। राम उनकी दृष्टि में पतितपावन और जगदुद्धारक थे जिन्होंने गीध, गज, गुह, शबरी, अजामिल आदि प्राणिवर्ग ही नहीं पाषाण तक का उद्धार किया था, जो अपने जनरक्षणार्थ शीघ्र ही दौड़ पड़ते हैं, जो करुणासागर, जन-मनरंजक और खल-दलमर्दक है तथा जो भक्ति से द्रवित हो भक्त को स्वकीय सामीप्य देते है। उनका दृढ़ विश्वास था कि यदि अन्य देव का नाम जपन किया तो जिह्वा व्यर्थ होगी, गल जायगी। रामहीन मन उनकी दृष्टि में शुष्क सरोवर के समान था तथा रघुपति-चरण-कमल के अनुराग बिना मन का मैल नष्ट नहीं होता और न उनकी भक्ति के बिना संसार-त्रास ही समाप्त होता है। रघुवीर-

शरण को ही वे परम शरण समझते थे। अतः वे अपने मन को बार-बार राम-भक्ति में ही मग्न होने का उपदेश करते थे और कहते थे हे मन ! तू राम-नाम रूपी जलधर का प्रेमी पपीहा बन जा, फिर तू किसी से न डरेगा, तू चिन्तामणि रत्न पा जाएगा, कल्पवृक्ष तुझे मिल जाएगा तथा मोक्ष भी सुलभ हो जाएगा क्योंकि वे कोई साधारण देव नहीं, हरि को हरिता, विधि को विधिता और हर को हरता उन्हीं ने तो दी है। ऐसे महद्विभूति से पूर्ण, सर्व-शक्तिमान, पापपुञ्जहारी एवं भक्तवत्सल भगवान् राम से अपने क्लेश सुनाना क्लेशनाश करना है। जिसका कोमल हृदय भक्त के दुखों को सुनकर द्रवित हो जाता है वह कलिकाल से पीड़ित तुलसी की प्रार्थना को अवश्य सुनेगा अतएव तुलसीदास ने यह पत्रिका राम के चरणों में भेजी है।

इस विषय मे एक कथा प्रसिद्ध है कि एक दिन तुलसीदास ने एक गौहत्यारे को पुकारते सुना कि है कोई ऐसा जो मेरे साथ राम के नाम पर भोजन कर मुझे गौहत्या से मुक्त करे ? तुलसीदास ने उसे बुलाया और बड़े प्रेम से उसके साथ भोजन किया। जब काशी के पण्डितों ने यह सुना तो आग बबूला हो गए और तुलसीदास को बुलाकर भर्त्सना करते हुए पूछा कि तुमने ऐसा क्यों किया ? उन्होने उत्तर दिया कि राम नाम की शरण लेने वाले को हत्या का पाप नही लगता। तदनन्तर बड़े विवाद के पश्चात् निश्चित हुआ कि इसके परीक्षणार्थ इस हत्यारे के हाथ से विश्वनाथ जी के (पाषाण निर्मित) नन्दी को आहार खिलाया जाय और यदि वह खा ले तो यह बात सत्य मानी जाएगी। ऐसा ही किया गया। कहते है सबके देखते-देखते नन्दी ने उस आहार को ग्रहण कर लिया। लोग बड़े प्रभावित हुए और उसी क्षण से राम-भक्त हो गए। कलियुग को बड़ा भय हुआ कि यदि इसी प्रकार तुलसी ने भक्ति का प्रचार किया तो उसे निवास के लिए भी स्थान न मिलेगा। अतः वह बड़ा विक्षुब्ध हुआ और तुससी दास को अनेक कष्ट देने लगा। तुलसी दास ने हनुमान के समक्ष अपना दुख रोया। उन्होंने आश्वासन दिया और कहा कि यदि तुम एक पत्रिका लिख दो तो मै श्री राम की सेवा में उसे भिजवा दूंगा। तुलसीदास ने उन्हीं के कहने पर यह पत्रिका लिखी।

यह कथा सत्य हो या न परन्तु यह निश्चित है कि तत्कालीन वाता-वरण बड़ा विषम था। प्रजा दुखी थी, अशन-वसन भी पर्याप्त मात्रा मे प्राप्य न था, शासन कठोर एवं अत्याचारों का बोलबाला था तथा भक्ति का ह्रास और मिथ्याचारों का प्रबल प्रचार था। यहां तक कि माँ-बाप से त्यक्त होकर तज्जन्य दुख भी वे भोग चुके थे। और यह सब कलियुग के प्रभाव से था। अतः सभी क्लेशों का मूल कारण कलियुग को ही समझ कर

उन्होंने यह पत्रिका लिखी, यह निर्विवाद है। उन्होंने कलिकाल से रक्षा करने के लिए बीच-बीच में अनेक स्थलों पर संकेत भी किया है, यथा—

त्राहि रघुवंशभूषन कृपाकर, कठिन काल विकराल कलित्रास-त्रस्तं।

कुछ लोगों का कथन है कि यह ग्रन्थ मुक्तक काव्य है, जिसमें स्वतन्त्र पदों को संकलित कर दिया है परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं। इस पत्रिका में एक क्रम है जिसने इसे खण्ड-काव्य का रूप दे दिया है। किसी भी दरबार मे प्रार्थना या पत्रिका मनुष्य स्वयं नहीं ले जा सकता। अतः उसे प्रथम कुछ दरबारी एवं अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों की अनुनय-विनय करनी पड़ती है। अतएव तुलसीदास ने भी पत्रिका के मूल विषय (राम महिमा, निजहीनता कलिप्रभाव एवं तज्जन्य दुख आदि) से पूर्व अनेक देव, देवियों एवं भगवान् राम के अनुचरों की प्रशंसा की है। ग्रन्थारम्भ गणेश जी की बन्दना से होता है। पुनः क्रमशः भगवान् सूर्य, शिवमूर्ति भगवान् शंकर; भैरव भैरव, जगदम्बा पार्वती, जगदखिल पावनी भगवती भागीरथी, कलि-भूप-सुभट-विदारणी कलिन्दनन्दिनी, सुमंगलराशि काशी और चित्त-चिन्तापहारी चित्रकूट की स्तुति की गई है। तदन्तर अञ्जनीनन्दन हनुमान की स्तुति है। पुनः क्रमशः लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के प्रशंगात्मक पद हैं। तत्पश्चात् अपने रामराजा की परमप्रिया जानकी की बन्दना करते हुए उनसे प्रार्थना की गई है कि हे मातः! कभी यदि अवसर देखो तो कृपालुराम से मेरी करुणकथा को भी चला देना क्योंकि मेरा और कोई नहीं है। इसके अनन्तर ४३ वें पद से ४८ वें पद तक राम-स्तुति है। पुनः ४९ वे पद में हरिशंकरी स्तुति के पश्चात् ५० और ५१ वें पद में राम-प्रशंसा है। ५२ वें पद में दशावतार का वर्णन है और फिर ६० वें पद तक रामस्तुति कर ६१ से ६३ तक विन्दु माधव की बन्दना की गई है। तत्पश्चात् पत्रिका प्रारम्भ होती है और २७६ पद तक लिखी गई है जिसमें भगवान् राम की महिमा, अपनी दीनता, कलिक्लिष्ट जनसाधारण की दुरवस्था और छिन्निभिन्न भगवद्भक्ति का चित्रण है। २७२ एवं २७६ वें पद में तुलसीदास ने अपने वाल्यकाल से अब तक के सारे दुखों को श्री राम से गिड़गिड़ाकर संक्षेपतः कहा है और पुनः निवेदन किया है कि हे नाथ! विश्व में मुझे कोई सहायक नहीं मिला, अब आप ही मुझे अपनाइए। पत्रिका समाप्त कर २७७ वें पद में वे श्री राम से पत्रिका को स्वयं पढ़ने के लिए प्रार्थना करते हैं। पुनः २७८ वे पद में पत्रिका को पेश करने के लिए हनुमान, शत्रुघ्न, भरत एवं लक्ष्मण से प्रार्थना करते हुए कहते है कि दरबार में मेरी याद रखना, बड़े भलों की तो सभी कह देते है, मुझ जैसे हीन और दीन का ध्यान तो आप ही को रखना होगा

और उचित अवसर आने पर भगवान् राम के चरणों में मेरी विनीत प्रार्थना रखनी होगी। इस पर हनुमान भरत और शत्रुघ्न का साहस न हुआ तब हनुमान और भरत की रुचि देखकर लक्ष्मण ने इस विनय-पत्रिका को श्री राम के समक्ष रखा, अन्य लोगों ने भी हां में हां मिलाई। भगवान् राम ने हंस कर उसे ग्रहण कर स्वीकार किया। इस प्रकार यह ग्रन्थ २७९ पदों में सम्पूर्ण हुआ है और एक खण्ड काव्य का रूप धारण कर गया है।

जहां तक इस ग्रन्थ के सिद्धान्त का सम्बन्ध है, वह भक्ति सिद्धान्त है। यद्यपि शांकरमत के अद्वैत के खण्डनार्थ उद्‌गत श्री रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय के ही ये अनुयायी थे परन्तु अद्वैत सिद्धान्त का इतना व्यापक प्रभाव था कि इन वैष्णव भक्तों पर भी न्यूनाधिक रूप में उसकी मुद्रा अंकित हो गई थी। स्वामी शंकर के मायावाद और संसार के मिथ्यवाद का व्यवहार तुलसीदास ने भी किया है परन्तु उन्होंने इन्हे उसी रूप में ग्रहण नही किया। वे संसार को अनेक स्थलों पर मृगमरीचिकावत भ्रमात्मक कहते हुए भी शांकरी भावना को अपना नहीं सके है। भक्त के लिए संसार कभी मिथ्या नही हो सकता अन्यथा भक्ति निष्फल हो जाएगी। भगवद्‌भक्ति में अनुरक्त भक्त तो सर्वत्र अपने आराध्य की छटा देख पाता है। विनयपत्रिका के अधिकांश पदों में राम की सौम्यमूर्ति, भक्तवत्सलता, दयालुता और भगवान से पृथक भक्त की दैन्यपूर्ण सत्ता का चित्रण है। अतः मानना पड़ेगा कि तुलसीदास ने संसार के मिथ्यात्व से तात्पर्य असारता लिया है। उनका भाव यह है कि भगवत्सामीप्य के लिए संसार को निस्सार समझकर हेय समझना होगा, असत्य, अवास्तविक एवं तत्वहीन मानना होगा। जीव और ब्रह्म मे तो वे कही भी अभेद नहीं लिखते। सम्पूर्ण पत्रिका मे उन्हे यह विचार रहा है कि वे एक दीन मनुज है जिसे कलिकालसंभूत क्लेशों ने पीड़ित किया हुआ है। अतः वे पतितपावन दयासिन्धु राम की सेवा मे अपने उद्धारार्थ विनय कर रहे है। भला फिर अद्वैत या अभेद कैसा ? वास्तव मे भक्ति मे अभिन्नता हो ही नही सकती। अतः तुलसी का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत जैसा है और वे थे भी विशिष्टाद्वैत के प्रतिपादक श्री रामानुजाचार्य की शिष्यपरम्परा म।

२२१ वें पद में वे लिखते हैं कि यह भ्रम का आधिक्य है कि देखते, सुनते, कहते और समझते हुए भी संसय और सन्देह नहीं जाता कि क्या सत्य है और क्या असत्य है। यदि संसार मृषा है तो तापत्रय का अनुभव क्यों होता है ? मृगवारि सत्य नहीं कहा जा सकता परन्तु जब तक भ्रम है तभी तक सत्य-सा प्रतीत होता है और यही भ्रम दुखदायी है। विवेक हीनता में

भ्रमवश यह संसार रमणीय प्रतीत होता है परन्तु बड़ा भयंकर है। यद्यपि वेद संसार के प्रपञ्च को मिथ्या कहते हैं परन्तु भवभय तो भगवद्भक्ति और सत्संगति से ही नष्ट होता है।

इससे प्रतीत होता है कि वे संसार का मिथ्यात्व शंकर स्वामी के अनुसार नहीं लेते। यद्यपि १२४ पद में—

जै निज मन परिहरै विकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख संसय सोक अपारा।।

कह कर अद्वैत की झलक दर्शाते हैं परन्तु इससे भी तात्पर्य जीव की भगवान् से विमुखता ही अभिप्रेत है।

इससे पूर्व १११वें पद में भक्तिमार्ग को अद्वैत, द्वैत, एवं द्वैताद्वैत सभी से भिन्न माना है—

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै।।

अर्थात् कोई इस सृष्टि को सत्य मानते हैं तो कोई असत्य और कोई सत्यासत्य। वेदान्तियों ने संसार को मिथ्या माना है तथा पूर्वमीमांसक कर्मकाण्डी, जिनमें स्मृतिकार एवं पुराणकार भी सम्मिलित हैं, इसे सत्य बतलाते हैं। ब्रह्म सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक द्वैतवादी मध्वाचार्य ने भी इसी मत को स्वीकार किया है। इनके अतिरिक्त भगवान् पतञ्जलि ने इस जगत् को सत्यासत्य रूप में ग्रहण किया है। सनकादिसम्प्रदाय के प्रवर्त्तक द्वैताद्वैत निम्बार्काचार्य ने इसी मत का प्रचार किया।

तुलसीदास ने इन तीनों मतों को भ्रम रूप बतलाया और कहा कि जो इनका परित्याग कर देता है वही अपने को पहचानता है। संसार को सत्य मानने वाले कर्म को प्रधानता देते हैं, असत्य मानने वाले ज्ञान को और सत्यासत्य मानने वाले योग को। इस प्रकार तुलसी की दृष्टि में कर्म, ज्ञान और योग तीनों ही हेय हैं। तब फिर उनकी दृष्टि में कौन-सा मार्ग उपादेय है? वह मार्ग भक्ति-मार्ग ही है जिसे तुलसी ने सर्वोपरि माना है। अतः इस ग्रन्थ में भक्ति सिद्धान्त का ही निरूपण है।

विनयपत्रिका ब्रजभाषा का एक अमूल्य ग्रन्थ है, जिसमें तत्सम शब्दों का अधिकांश प्रयोग है, वरन् यह कहना चाहिए कि अधिकांश पदों में तत्सम शब्दों का ही प्रयोग है, केवल कहीं-कहीं ब्रज के प्रत्यय एवं क्रिया-रूप दृष्टिगोचर होते हैं। प्रारम्भिक पदों में समस्त पदों के निचय से बाणभट्ट की कादम्बरी की सरस एवं मनोरम छटा आँखों के समक्ष घूम जाती है। यथा—

सिरसि संकुलित-कल-जूट-पिंगल जटा पटल सतकोटि विद्युच्छटाभं।

जयति अंजनी-गर्भ-अंभोधि-संभूत विधु विबुध-कुल-कैरवानन्दकारी।
केसरी-चारु-लोचन-चकोल-सुखद

*　　　*

कोसलेन्द्र नव नील कंजाभतनु, मदन-रिपु कंज हृदि-चंचरीकं।
जानकीरवन, सुखभवन, भुवनैकप्रभु, समरभंजन, परम कारुनीकं॥

इन पदांशों में संस्कृत की ही कान्त पदावली की सुषुमा मन को मोहती दीख पड़ती है। इनमे शब्द दुरूहता होते हुए भी मञ्जुता, मनोहारिता और सरसता भी पर्याप्त है। यही नही, सुगमता भी है। सम्भवतः तुलसी ने प्राकाण्ड पाण्डित्य प्रदर्शित करने के लिए ऐसा नहीं किया वरन् इसलिए कि इस कोष के अमूल्य रत्न किसी अनाड़ी के हाथ न लग जाएँ।

इसमें कही-कही बुन्देलखण्डी एवं अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। यथा—

बुन्देलखण्डी—अथाई, पनवारी, काउ, ल्यावों आदि।

अरबी-फारसी—दिरयानी, गरीब, गुलाम, फहम, साहिब, निशान, निवाज, वसीला, शरम, जहान, सलल, मिसकीन आदि।

कहीं-कही बैसवाड़ी भाषा के ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जैसे—सतर्सहि (सोते हैं)।

इस ग्रंथ में अनेक राग-रागनियों का प्रयोग हुआ है, जिनमे संगीत की अलौकिक छटा छिटकी हुई है। इसकी कला कानों को और भाव आत्मा को सुख-शान्ति देते है।

तुलसीदास का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ है **रामचरितमानस** जिसे साधारणतया रामायण कह देते हैं। महाकाव्य के अतिरिक्त यह पण्डिताऊ अवधी का एक महान् कोष है। जिस ठेठ अवधी का प्रयोग जायसी ने अपने पद्मावत में किया है, उसके दर्शन तुलसी के ग्रंथों मे से जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, बरवै-रामायण और रामललानहछू में होते है। रामचरितमानस की भाषा अवधी होते हुए भी ठेठ अवधी नहीं क्योंकि उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है।

रामचरितमानस का मूलाधार बाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण हैं। रामचरितमानस के प्रारम्भ में आदि कवि की बन्दना करते हुए कवि ने पूज्यभाव दिखलाया भी है—

सीताराम गुणग्राम पुण्यारण्य विहारिणौ।
वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वर कपीश्वरौ॥

आदि कवि ने रामायण को क्रमशः बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, लंका और उत्तरकांड में विभक्त किया है। तुलसीदास ने भी रामचरितमानस में यही क्रम रक्खा है। रामचरितमानस का उत्तरकाण्ड स्वतन्त्रता से लिखा गया है। कुछ विद्वानों के मतानुसार बाल्मीकि रामायण का उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है। तुलसीदास ने आदिकवि का अवलम्ब ले कर भी पर्याप्त मौलिकता को प्रदर्शित किया है। सर्वप्रथम तो सैद्धांतिक मौलिकता है। जबकि बाल्मीकि ने राम को एक महापुरुष और सीता को श्रेष्ठ नारी माना है, तुलसीदास ने राम को ईश्वर का अवतार माना है और ब्रह्मा-विष्णु-महेश से भी बढ़कर बतलाया है। बाल्मीकि ने राम-सीता का परिचय इस प्रकार दिया है—

> इक्ष्वाकु वंश प्रभवो रामो नाम जनै श्रुतः।
> नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान्वशी ॥
>
> *   *
>
> जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता।
> सर्वलक्षण सम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः ॥

संभवतः तुलसीदास ने अपने अध्यात्म का स्वरूप अध्यात्म रामायण से ग्रहण किया, जिसमें राम को पूर्ण ईश्वर माना गया है। इसके अतिरिक्त कथा-क्रम भी अपनाया है।

रामचरितमानस की सम्पूर्ण कथा प्रसंगानुसार याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद, शिव-पार्वती-संवाद एवं काकभुशुण्डी-गरुड़-संवाद के रूप में वर्णित है। यह भी एक नूतनता है।

तुलसीदास ने इसका नाम रामायण न रख कर रामचरितमानस रखने में निम्न कारण बतलाया है—

> रामचरित मानस मुनि भावन। बिरचेउ सम्भु सुहावन पावन ॥
> त्रिविध दोष दुख दारिद दावन। कलि कुचाल कुलि कलुष नसावन ॥
> रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा ॥
> तातें रामचरित मानस बर। धरेउ नाम हिय हेरि हरसि हर ॥

कवि ने राम कथा को अपने गुरु से शूकर क्षेत्र में सुना था और पुनः उन्होंने स्वान्तः सुखाय हिन्दी भाषा में रामचरितमानस के नाम से लेखनी-बद्ध कर दिया, जिसे उन्होंने अनेक पुराण, वेद-शास्त्र और अन्य ग्रन्थों एवं जनश्रुति आदि से सम्मत कहा है—

> नानापुराण निगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
> स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा—भाषानिबन्ध मतिमञ्जुल मातनोति ॥

नीचे कुछ प्रसिद्ध शास्त्रों एवं ग्रन्थों से रामचरितमानस का भाव-साम्य दिखलाया जाता है।

गीता—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

रामचरितमानस—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी॥
तब तब प्रभु धरि मनुज सरीरा। हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा॥

भागवत—

दुश्शीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनो ऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यः लोकेप्सुभिरपातकी॥

रामचरितमानस—

वृद्ध रोगवस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अतिदीना॥
ऐसेहु पतिकर किय अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥

शिवपुराण—

मितं ददाति जनको मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य हि दातारं भर्त्तारं पूजयेत्सदा॥

रामचरितमानस—

मातु पिता भ्राता हितकारी। मित प्रद सब सुनु राजकुमारी॥
अमितदानि भर्त्ता वैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥

कठोपनिषद्—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

रामचरितमानस—

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै बिधि नाना॥
तन बिन परस नयन बिनु देखा।

चाणक्यनीति—

पतितोऽपि द्विजः श्रेष्ठो न च शूद्रो जितेन्द्रियः।
निर्दुग्धा चापि गौः पूज्या न च दुग्धवती खरी॥

रामचरितमानस—

पूजिय विप्र शीलगुन हीना। शूद्र न गुन गन ज्ञान प्रवीना॥
दुग्धो धेनु दुही सुनु भाई। साधु रासभी दुही न जाई॥

बाल्मीकि रामायण—

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

रामचरितमानस—

प्रिय बानी जे सुनहिं जे कहहीं। ऐसे जग निकाय नर अहहीं ॥
बचन परम हित सुनत कठोरे। सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे ॥

अध्यात्मरामायण—

अग्रे यास्याम्यहं पश्चात् त्वमन्वेहि धनुर्धरः।
आवयोर्मध्यगा सीता मायेवात्मपरात्मनोः ॥

रामचरितमानस—

आगे राम लखन पुनि पाछे। तापस वेष बने सब आछे ॥
उभय मध्य सिय सोहति कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ॥

हनुमन्नाटक—

पृथ्वी स्थिरा भव भुजङ्गम धारयैनां
त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः।
दिक्कुञ्जरा कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षां
रामः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥

रामचरितमानस—

दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला ॥
राम चहहिं संकर धनु तोरा। सजग होहु सुनि आयसु मोरा ॥

मेघदूत—

धूमः ज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः

रामचरितमानस—

सोइ जल अनल अनिल संघाता।

उत्तर रामचरित—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति

रामचरितमानस—

कुलिसहुं चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहुं चाहि।
चित खगेस रघुनाथ अस, समुझि परै कछु काहि ॥

प्रसन्न राघव—

चन्द्रहास हर मे परितापं, रामचन्द्र विरहानल जातम् ॥
त्वं हि कान्तिजित मौक्तिक चूर्ण धारया वहसि शीतलमम्भः ॥

रामचरितमानस—

चन्द्रहास हर मम परितापं। रघुपति-विरह अनल-संजातं ॥
सीतल निसित बहसि बर-धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा ॥

इसी प्रकार यदि विशेष ग्रन्थ-पर्यालोचन किया जाए तो अनेकानेक उक्तियाँ हमें मानस में उसी रूप में अनूदित-सी दीख पड़ती हैं। अनेक

स्थलों पर भाव-साम्य है तो कहीं भाव-छाया है। तात्पर्य यह है कि तुलसीदास ने अनेक ग्रन्थों से रस लेकर इस मानस को पूर्ण किया है जैसा कि उन्होंने ऊपर कहा है परन्तु उन्होंनें कथा, वर्णन, भावप्रकाशन, शब्द-योजना एवं शैली में मौलिकता को नष्ट नहीं होने दिया है।

रामचरितमानस अवधी का एक महाकाव्य है, जो सात काण्डों में समाप्त हुआ है। इसके नायक प्रसिद्ध रघुकुलोत्पन्न मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम हैं जो दया, दाक्षिण्य, औदार्य एवं शक्तिमत्ता आदि धीरोदात्त नायक के गुणों से परिपूर्ण है। उनकी परमप्रिया सहचरी मिथिलेश जनक की राजदुलारी सीता भी तदनुकूला ही हैं। यह ग्रन्थ दोहा-चौपाई के क्रम से लिखा हुआ है। काण्डो के प्रारम्भ में संस्कृत-छन्द है, जिनमे स्तुतियां है और ग्रन्थ के बीच-बीच में अनेक स्थलों पर हरिगीतिका, तोमर, छप्पय आदि छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। कथा को बड़े विस्तार से वर्णित किया है, जिसमें अनेक प्रासंगिक कथाओं का भी समावेश है। इसमें विवाह, युद्ध एवं प्रकृति का बड़ा सुन्दर और रसानुकूल वर्णन है। प्रकृतिवर्णन मे ऋतु-वर्णन तो बड़ा चित्ताकर्षक है। इसके अतिरिक्त पर्वत, नदी, वन, सरोवर आदि का वर्णन भी अनुपमेय है। काव्य में घटनाओं के अनेक घात-प्रतिघातों के पश्चात् बड़ी सुखमय परिस्थिति उपस्थित की गई है।

इस महाकाव्य ने संसार में जितना महत्व प्राप्त किया उतना कोई अन्य काव्य प्राप्त नहीं कर सका है। भारत के कोटि-कोटि घरों में यह धर्मशास्त्र की भाँति आदृत है और सन्तों के लिए ज्ञानमञ्जूषा, सुधारकों के लिए उपदेश-भण्डार, सच्चे राजनीतिज्ञों के लिए मंत्रणा-पत्र, उत्पीड़ितों के लिए शान्ति प्रदाता, विधवाओं के लिए आश्वासनदाता, नारियों का धर्मरक्षक, युवकों का पथप्रदर्शक, वृद्धों का धर्मरति द्वारा काल-यापन की परमौषध बना हुआ है। मानव-समाज के प्रत्येक अंग—मां-बाप, भाई, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा आदि—की कर्त्तव्य परायणता एवं मर्यादा का जैसा उपदेश इसकी कथा से मिलता है वह अनुपम है। इससे तुलसीदास की बहुज्ञता का तो पता चलता ही है, साथ ही एक सुन्दर रोचक रूप में सभी निगमागमों का सार हमारे समक्ष रखता है। यह ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग, नीति सभी का अमूल्य भण्डार है। इसमें ज्ञानियों के लिए ज्ञान, भक्त के लिए भक्ति, कर्मकाण्डी के लिए कर्म, योगी के लिए योग और नीतिज्ञ के लिए नीति का पाठ सुस्पष्ट शब्दों में लिखा हुआ है परन्तु परमभक्त तुलसीदास नें भक्ति को ही सर्वोपरि माना है। अत एव इसका सम्मान भक्ति के दृष्टिकोण से ही अधिक है। वास्तव में देखा जाए तो ज्ञान, कर्म और

भक्ति का इसमें समन्वय है किन्तु भक्ति को उच्चासन दिया है। कवि कहीं भी भूल नहीं पाया है कि राम उसके आराध्य है। अतः कहीं भी औचित्य का उल्लंघन नहीं हुआ है। उनका हास्यभाव कहीं भी प्रभु-मर्यादा को अतिक्रमण कर विचलित नहीं हुआ है। जहां पर प्रकृति का वर्णन है वहाँ तो तुलसी की दार्शनिकता फूट पड़ी है परन्तु फिर भी वे स्थल काव्य की दृष्टि से नीरस नहीं हुए हैं। यद्यपि अनेक स्थलों पर अद्वैत का निरूपण भी दीख पड़ता है परन्तु वास्तव में तुलसीदास ने शांकर अद्वैत को उसी रूप मे नहीं लिया है, उससे तात्पर्य भक्त और भगवान का एक रूप हो जाना ही है परन्तु संसार को सीताराममय कहते हुए भी वे इस एकरूपता में भिन्नता मानते ही हैं।

इस ग्रन्थ में तत्कालीन राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थिति का भी परोक्षतः निरूपण है, जिसनें कवि की वाणी को ऐसे स्थलों पर बड़ा करुण एवं मर्मस्पर्शी बना दिया है। संगीत की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अपूर्व है। आज भी रामायण के वाचक अपनी मधुर एवं सुरीली वाणी से जनता को मंत्रमुग्ध-सा कर देते हैं।

यद्यपि कहीं-कहीं पिंगल के अनुसार दोहा-चौपाइयों में मात्रादोष कहा जाता है। दोहों में तो प्रायः समचरणों में १३ के स्थान पर १२ मात्राएँ हैं। अतः कुछ लोग उन्हें दूषित बताते हैं परन्तु महाकवि तुलसी ने जो इसका व्यवहार किया है वह अखरता नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि तुलसी ठीक हैं बल्कि पिंगल ने दोहा की इस उपजाति को न लिखकर भूल की है। क्योंकि गति और लय से जो छन्द बन जाता है वह अवश्य होना चाहिए। इसी प्रकार भाषा के विषय में भी लोग दूषण निकालते हैं कि इसकी अवधी ठेठ अवधी नहीं है, उसमें तत्सम शब्द भरे पड़े हैं तथा अवधी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के शब्द भी उसमें मिलते हैं यथा—

बुन्देलखण्डी—सुपेती, देगाई, मानिवी, जानिवी, आदि।

अरबी—गनी, गरीब रजाई, हुनर, मसखीरी, साहिब, लायक, जमात, सही आदि।

फारसी—कागद, पिरोजा, कूर, निसाना, लगाम, सिरताज, रुख, दरबार, कमान, तरकस, चौगान, दरिया, दाम, खूब, पाक आदि।

राजस्थानी—दारू, सारा (लगाया) आदि।

पंजाबी—धुवां (लाश), सिखर (सिखरा-जूठन) आदि।

छत्तीसगढ़ी—कुराई (गड्ढा)
भोजपुरी—घायल, रौरे, राउर।
बँगला—थाकेउ (थाको-ठहरना)

इनके अतिरिक्त संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग तो पर्याप्त मात्रा में है। अतः तुलसी की भाषा में इयत्ता एवं नियमितता नहीं है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि तुलसी उदाराशय थे, समन्वयवादी थे अतः वे संकीर्णता से कोसों दूर थे। यदि प्रचलित शब्दो का प्रयोग सुवर्ण खचित मणि की भाँति ठीक बैठता हो तो हानि क्या है ? उदाहरणतः यदि हम 'वह कौनसा प्रेमी है जिसके हाल पर यार ने दयादृष्टि न की हो' इस वाक्य में यार के स्थान पर मित्र शब्द डालदें तो गुड़ गोबर हो जाएगा। अतः यदि तुलसी ने भिन्न भाषा के शब्दों को तत्सम या तद्भव रूप में ग्रहण किया है तो कोई अनौचित्य नहीं।

इसी प्रकार अनेक घटनाओं मे राम की कुचेष्टा बतलाते हुए भी कुछ अंशों को हेय बताया जाता है। यथा सूर्पनखा की नाक काटना एवं बालि का बध आदि। किन्तु यदि वैधानिक रूप से देखा जाए तो इससे राम के चरित्र पर रंचमात्र भी दोष नहीं लगता। यदि रात्रि के समय एक डकैत स्त्री को कोई शासक मार दे तो क्या दोष होगा ? यदि अपराधी को दण्ड दिया जाए तो क्या दण्डदाता दण्डनीय होगा ? नहीं, ऐसा कहना एवं करना ठीक नही। रामावतार ही आततायियों की समाप्ति के लिए हुआ था। सूर्पनखा का कुरूपीकरण सीताहरण में और बालिबध राम-सुग्रीव-मित्रता में कारण हुआ और यह होना चाहिए था। अन्यथा महा अत्याचारी राक्षसों का विनाश न होता। अतः विचारपूर्वक देखा जाए तो ऐसी बातों का समाधान सरलता से हो जाता है।

तुलसीदास की अनेक उक्तियों पर भी बड़ी आपत्ति है, यथा—

शूद्र गंवार ढोल पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥

कुछ महाशयों का कथन है कि देखिए बाबा ने शूद्र और नारियों के लिए कितने लज्जास्पद वचन कहे हैं। परन्तु यदि वे इसका अर्थ इस प्रकार लगाते कि गंवार, शूद्र, ढोल और पशुभूत नारी ताड़न के अधिकारी हैं तो विवाद का कोई कारण न रहता।

उपर्युक्त विधि से विचार करने पर अनेक दोष और त्रुटियों का समाधान हो जाता है। हाँ, अनेक स्थलों पर 'सहज अपावन नारि' आदि कह कर स्त्री को सहज अज्ञ एवं अपावन तथा माया का रूप और अनेक दोषों

से युक्त बतलाया है सो यह भारतीय विरक्त महात्माओं का स्त्री के विरुद्ध एक सहज व्यापार रहा है, तुलसीदास ही अपवाद क्यों होते। यह दोष तुलसी में भी हो सकता है। उनमें पूर्णता को देखना तो हमारी भी भूल होगी। नर जब तक नारायण नही हो जाता वह अपूर्ण है। अतः उसकी कृतियाँ भी पूर्णता को नहीं पा सकतीं। इससे किसी व्यक्ति का महत्व कम नहीं होता।

रामचरित मानस की सर्वप्रियता का कारण कवि की समन्वयवादिता भी है। उन्होंने शैव और वैष्णवों की खाई को पाटने का जो सुन्दर प्रयत्न किया है वह देखते ही बनता है। अपने आराध्य राम को हरि, हर और ब्रह्मा से बढ़ कर बता कर भी बाबा जी राम से बार-बार यही कहलाते हैं कि शिव और मुझ में कोई अन्तर नहीं, जो शिव का वैरी है वह मेरा भी वैरी है। उधर शिव जी से राम कथा ही कहलाई गई है। इसी प्रकार भक्ति को प्रधानता देते हुए भी ज्ञान, कर्म और भक्ति का बड़ा अलौकिक समन्वय किया गया है।

इसके अतिरिक्त काव्य-सौन्दर्य भी भरपूर है। अवसरानुसार रसों का चित्रण, शब्द-शक्तियों द्वारा आर्थिक सौन्दर्य-प्रदर्शन, माधुर्य, प्रसाद एवं ओज गुणों का प्रयोग, सहज एवं अकृत्रिम आलंकारिकता एवं पर्याप्त दोष-हीनता आदि गुण-रत्नों ने मानस को मञ्जुल कोष बना दिया है। प्रयाग, चित्रकूट, वर्षा, शरद् एवं युद्ध आदि का वर्णन तथा महेश-पार्वती आदि के संवाद और अनुसूया का सीता के प्रति उपदेश आदि के प्रसंग इस काव्य के अमूल्य स्थल है।

अन्त में यही कहना होगा कि एक बहुश्रुत किन्तु प्रभावशाली नैसर्गिक कवि से यही सम्भाव्य था। अतः वह साहित्य-निधि का आज ही नहीं चिर भविष्य में भी एक अनूठा रत्न रहेगा।

अब तुलसीदास के ग्रन्थों पर विहंगम दृष्टि डालने के पश्चात् उनकी रचना-प्रणाली और पुनः उनकी भक्तिपद्धति एवं दार्शनिकता पर प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

रचना प्रणाली—तुलसीदास से पूर्व एवं उनके काल में दो प्रमुख भाषाओं का साहित्य में बोलबाला था—एक ब्रज का और दूसरी अवधी का। सूरदास आदि कृष्णभक्त कवियों ने ब्रजभाषा में और जायसी आदि सूफी कवियों नें अवधी में रचनाएँ कीं। तुलसीदास ने इन दोनों ही भाषाओं में अधिकारपूर्ण ढंग से ग्रन्थ-निर्माण किया। अवधी में रामचरित मानस

और ब्रज में विनयपत्रिका इनकी अनुपम कृतियां हैं। भाषा की सरलता और गम्भीरता विषयानुकूल है। यद्यपि कहीं-कही बीच में अरबी-फारसी एवं बुन्देलखण्डी आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है तथापि वहाँ भाषा का सौन्दर्य लुप्त नहीं हुआ है।

भाषा के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य में प्रमुखतः पांच शैलियां प्रचलित थीं। प्रथम छप्पय पद्धति जिसका प्रयोग वीर-गाथा काल में हुआ था, द्वितीय विद्यापति एवं सूर आदि की गीतपद्धति, तृतीय कवित्त-सवैया पद्धति जिसका व्यवहार प्रायः भाटों ने किया था, चतुर्थ कबीर आदि की नीति सम्बन्धी दोहा-पद्धति और पञ्चम दोहा-चौपाई-पद्धति जिसको सूफी प्रेम-काव्यों में प्रयुक्त किया गया था।

तुलसीदास ने इन सभी पद्धतियों को अपनाया। छप्पय पद्धति और कवित्त-सवैया-पद्धति पर इन्होंने कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं लिखा परन्तु इस पद्धति को कवितावली में पूर्ण सफलता से प्रयुक्त किया है। गीतपद्धति पर लिखे गीतावली, कृष्णगीतावली और विनयपत्रिका इनके अनुपम ग्रन्थ-रत्न हैं। नीति सम्बन्धी पदों का संग्रह दोहावली है और दोहा-चौपाई-पद्धति पर लिखा रामचरित मानस है जो अपना सानी नहीं रखता।

इन्होंने वीर गाथा काल के वीर भाव और भक्तिकाल की भक्ति भावना एवं ज्ञान-वैराग्य का अपनी रचनाओं में बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। यही नहीं, लोक-पक्ष को लेकर पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन का सुन्दर आदर्श उपस्थित करते हुए शृंगार का भी मर्यादापूर्ण रूपांकन किया है।

इनके ग्रन्थों में न्यूनाधिक रूप से सभी रसों का चित्रण हुआ है। वस्तु एवं भावव्यंजना भी अपने उत्कृष्ट रूप में हुई है तथा प्रबन्ध-पटुता इनकी प्रतिभा की परिचायिका है। अदोषता और सगुणता तो इनके काव्य के प्रमुख गुण हैं। कहीं-कही न्यूनपदत्व एवं मात्रा बाहुल्य का दोष कहा जाता है परन्तु वास्तव में है नहीं। क्योंकि ऐसे स्थलों पर हमें पिंगल की अपेक्षा संगीत का अधिक ध्यान रखना चाहिए। दूसरे महाकवियों द्वारा प्रयुक्त छन्द भी छन्द है यदि उसमें गति और लय ठीक है। अतः पिंगल को उसका अनुसरण करना चाहिए। तुलसीदास अलंकारों के चक्कर मे नहीं पड़े है तथापि उनके काव्य सालंकार उच्चकोटि की रचनाएँ हैं।

वास्तव में तुलसीदास हिन्दी-साहित्य में अनुपम हैं। सूर वात्सल्य के चित्रण में बेजोड़ है परन्तु तुलसी की बहुज्ञता, दार्शनिकता, पाण्डित्य,

संगीत-पिंगलज्ञान, अलंकारिक छटा एवं शब्दार्थ-सौन्दर्य आदि गुणों को कोई नहीं पा सकता।

भक्ति पद्धति एवं दार्शनिक विचार—तुलसीदास के ग्रन्थों का अनुशीलन एवं पर्यालोचन करने के पश्चात् हमें उनकी भक्ति एवं दार्शनिक विचारों का पूर्ण परिचय मिल जाता है। यों तो यह निर्विवाद है कि तुलसी राम के भक्त थे और राम के अतिरिक्त वे किसी को नहीं चाहते थे। शक्ति, शिव, भैरव, गणेश आदि की स्तुति उन्होंने इसलिए की है कि वे इन्हें राम का ही अनुचर मानते थे। राम यदि राजा हैं तो ये उनके दरबारी सामन्त या अनुचर। इसके अतिरिक्त एक बात और थी कि शैव, वैष्णव, शाक्त, निर्गुण सम्प्रदाय आदि के विरोध ने तत्कालीन वातावरण को कलुषित कर दिया था। पारद्रष्टा एवं दूरदर्शी तुलसी ने कटुता एवं वैमनस्य को मिटाने के लिए समन्वयवादिता का आश्रय लिया। जहाँ कहीं भी उन्होंने शाक्त एवं शैव आदि पर आक्षेप किया है, वहां उन्होंने तत्तत्सम्प्रदाय के बाह्याचारों पर ही, न कि उनके इष्टदेवों पर।

उन्होंने रामचरित मानस में राम-नारद संवाद, गरुड़-काकभुशुण्ड-संवाद तथा वर्षा-शरद् आदि के वर्णन में और भी अनेक स्थलों पर तथा विनयपत्रिका के अनेक पदों में दार्शनिकता का पूर्ण परिचय दिया है। उन्होंने अनेक स्थलों पर अद्वैत सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए ईश्वर को विभु, निर्विकार, अशरीरी, अजन्मा एवं निर्गुण कहा है। ज्ञात होता है कि यह विचारधारा उन्होंने अध्यात्म रामायण से ली। कारण यह था कि रामानन्दी सम्प्रदाय में अध्यात्म रामायण का बड़ा महत्व रहा है और तुलसीदास रामानन्द की शिष्य परम्परा में थे। ये स्वामी रामानन्द द्वारा वैरागी सम्प्रदाय के प्रमुख संतों में गिने भी जाते थे। वैरागी लोग राम-कृष्ण की उपासना करते आए हैं। तुलसी ने भी अपने परमाराध्य राम के अतिरिक्त कृष्ण पर भी पर्याप्त लिखा है। अध्यात्म रामायण में अद्वैत का प्रतिपादन है। अतः इन पर उसका प्रभाव होना अनिवार्य था। परन्तु इन्होंने, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अद्वैत को उसी रूप में ग्रहण नहीं किया। इन्होंने भक्ति को श्रेष्ठता दी और उसके लिए इन्होंने ईश्वर का अवतार स्वीकार किया और उसे सगुण माना, अन्यथा भक्ति असम्भव है। अतः निर्गुण ब्रह्म में भी सगुणता का आरोप किया। एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट लिखा भी है—

> व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुण विगत विनोद।
> सो अज प्रेमभगति वश, कौशल्या के गोद॥

उन्होंने भक्ति के समक्ष माया की शक्ति नगण्य बतलाई है। वे माया से

तात्पर्य जगत्प्रपञ्च लेते हैं और इस प्रपञ्च के मिथ्यात्व से अभिप्राय निस्सारता बतलाते हैं। सृष्टि को मृगमरीचिका एवं रज्जुसर्पवत् कहते हुए भी सृष्टि-सत्ता में भ्रम से तात्पर्य धोखा लिया गया है न कि भ्रमविषयक पदार्थ का मूलत: अभाव। तुलसी की दृष्टि में सृष्टि सत्य है परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से हरिहीन एवं सन्मार्ग विचालक होने से असत्य है—निस्सार है अर्थात् प्रवृत्ति-योग्य नहीं। अत: अद्वैतवादियों की मायारूप ब्रह्म की पृथक् शक्ति को उन्होंने उस रूप में ग्रहण नहीं किया है। उनकी रचनाओं में जीव और ब्रह्म का भेद तो कहीं भी सन्दिग्ध नहीं हुआ है। जीव ब्रह्म से पृथक् न हो तो भक्ति एवं भक्ति का साफल्य कैसे? क्योंकि भक्त आराध्य से सामीप्य और सायुज्य तो चाहता है परन्तु एकरूपता नहीं। और यदि एकरूपता भी चाहता है तो नीर-क्षीर की अभिन्नता के रूप में, जिसमें अभिन्नता होते हुए भी भिन्नता विद्यमान है, न कि दूध-दूध की अभिन्नता के रूप में। अत: हम तुलसीदास को अद्वैतवादी न कह कर विशिष्टाद्वैतवादी कहें तो उपयुक्त होगा और थे भी ये विशिष्टाद्वैतवाद के प्रवर्तक रामानुजाचार्य की क्रमानुगत शिष्य-परम्परा में। उन्होंने विश्व को सियाराममय ही देखा और उसे उसी रूप में ही प्रतिपादित किया है। इस विश्व की सीताराममयता के समक्ष उनके लिए कोरा ज्ञान पाषाणवत् शुष्क एवं निःस्नेह है।

श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन करते हुए ईश्वर के स्वरूप को पञ्च प्रकार से विभक्त किया है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार। ईश्वर का पर रूप अनन्त और परमानन्दमय है और ऐश्वर्य, शक्ति, तेज, ज्ञान, बल और वीर्य इन छः गुणों से युक्त है। व्यूह स्वरूप विश्व की उत्पत्ति और संसार के लिए है। विभव रूप वैभव-प्रदर्शन के लिए होता है अत: इससे वह अवतार धारण कर विविध लीलाएँ करता है, जिनका ध्येय धर्म की संस्थापना ही होता है। अन्तर्यामी रूप से वह ईश्वर सभी प्राणियों के अन्तःकरण में व्याप्त होकर उनका नियमन करता है और अर्चावतार उसका वह रूप है जो भक्त के हृदय में अधिष्ठित हुआ पति, पत्नी, सखा एवं दास और विविध रूपों में भक्त की इच्छानुसार प्राप्य होता है। रामचरितमानस में रामजन्म के समय कौशल्या ने जो स्तुति की उसमें ईश्वर के इन पाँचों रूपों का कृत्रिम विकास हमें दीख पड़ता है तथा विनयपत्रिका आदि में इन रूपों का स्थल-स्थल पर सुन्दर चित्रण हुआ है। इस प्रकार तुलसीदास ने विशिष्टाद्वैत को ही सिद्धांत रूप में ग्रहण किया है और इसीलिए उनकी भक्ति सेव्य-सेवकभाव की है।

केशवदास

रीति काल के प्रवर्तक आचार्य केशव के विषय में संदिग्धता कम ही है। रामचन्द्रिका के प्रारम्भ में अपना वंश-परिचय देते हुए स्वयं कवि ने लिखा है—

सनाढ्य जाति गुनाढ्य है, जगं सिद्ध शुद्ध सुभाव।
सुकृष्णदत्त प्रसिद्ध हैं, महि मिश्र पण्डितराय॥
गणेश सो सुत पाइयो बुध काशिनाथ अगाध।
अशेष शास्त्र विचारिकै, जिन जानियो मत साध॥
उपज्यो तेहि कुल मंदमति, शठ कवि केशवदास।
रामचन्द्र की चन्द्रिका, भाषा करी प्रकाश॥

इससे स्पष्ट है कि ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इसके अतिरिक्त रामराज्याभिषेक के समय भी 'प्रगट सकल सनौडियन के प्रथम पूजे पाह' कहकर सनाढ्यों की श्रेष्ठता बतलाते हैं तथा लवणासुर बध के समय उनकी इस प्रकार प्रशंसा करते हैं—

सनाढ्य वृत्ति जो हरै। सदा समूल सो जरै।
सनाढ्य जाति सर्वदा। यथा पुनीत नर्मदा।

उपर्युक्त उद्धरण से विदित होता है कि इनके पितामह का नाम कृष्णदत्त और पिता का नाम काशीनाथ था। इनके पूर्वज बड़े संस्कृतज्ञ थे। प्रसिद्ध आयुर्वेदिक ग्रन्थ भावप्रकाश के रचयिता पं० भावमिश्र इन्हीं के पूर्वज थे। कवि के पितामह कृष्णदत्त भी उनके अनुसार जगत्प्रसिद्ध पण्डितराज थे, जिन्हें तत्कालीन ओरछा नरेश रुद्रप्रताप ने पुराणकथा-वाचन का कार्य सौंपा था। इनके पिता काशीनाथ ज्योतिष के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने शीघ्रबोध नामक एक ज्योतिष-ग्रंथ का निर्माण भी किया। इन्हीं काशीनाथ के तीन सुपुत्र हुए—बलभद्र, केशवदास और कल्याणदास। केशवदास का जन्म ओरछे ही म सं० १६१२ में हुआ।

पं० काशीनाथ ओरछाधिपति रुद्रप्रताप के उत्तराधिकारी मधुकरशाह के यहाँ पुराणवाचनार्थ नियुक्त हुए। काशीनाथ के निधनोपरान्त केशवनाथ के ज्येष्ठभ्राता 'नखशिख' के रचयिता बलभद्र मिश्र ने इस पद को सँभाला। मधुकरशाह के पश्चात् रामशाह सिंहासनासीन हुए। इनके आठ भाई थे,

जिनमें इन्द्रजीतसिंह परमबुद्धिमान् थे। अतः रामशाह ने शासक होते हुए भी राज्यसंचालन का कार्य इन्द्रजीतसिंह को ही सौंप दिया था। महाकवि केशव-दास इन्ही के आश्रय में रहे। इन्द्रजीतसिंह इनका अत्यधिक सम्मान करते थे, यहाँ तक कि इन्हें गुरु मानते थे। इनकी बुद्धिमत्ता, अगाध पाण्डित्य एवं वाग्विलास पर मुग्ध होकर उन्होंने इन्हें २१ ग्राम उपहार में दिये थे। केशव की प्रतिभा का जादू राजा रामशाह पर भी चढ़ गया था। अतः वे भी इनसे मंत्रणा किया करते थे। केशव ने स्वयं लिखा है—

गुरु करि मान्यो इन्दूजीत, तन मन कृपा विचारि।
ग्राम दये इकबीस तब, ताके पाँप परवारि॥
इन्द्रजीत के हेत पुनि, राजा राम सुजान।
मान्यो मंत्री मित्र के, केसवदास प्रमान॥

केशवदास का इन्द्रजीतसिंह पर बड़ा स्नेह था। अतः उन्होंने एक बार उनपर दिल्लीपति अकबर द्वारा किए गए एक करोड़ के जुर्माने को महाराज बीरबल की सहायता से क्षमा कराया था। इस रोष के दो कारण बतलाए जाते हैं, एक तो यह कि रामशाह के भाई वीरसिंह देव ने सलीम की मित्रता के निमित्त अबुलफजल को मरवा डाला था और दूसरा यह कि इन्द्रजीतसिंह के यहाँ एक बड़ी सुंदरी एवं संगीतकला विशारदा रायप्रवीन नाम की वैश्या थी। महाराज के कहने से केशवदास ने उसे काव्य-कला-प्रवीण बना दिया। रायप्रवीन का इस ज्ञान प्रकाश ने मार्ग-प्रदर्शन किया और वह वेश्या न रहकर महाराज की परिणीता बधू हो गई। किंतु उसके गुणों की प्रशंसा दिल्ली दरबार तक पहुँची और सम्राट् ने उसे दिल्ली भेजने के लिए महाराज को लिखा। चिंता के घनपटल ने सभी के मन को अंधकारावृत कर दिया परंतु रायप्रवीन दिल्ली गई और राजदरबार में उपस्थित हो कहा—

जूठी पातर भखत हैं बारी, वापस, स्वान।

यह सुनकर अकबर बड़ा कुपित हुआ।

सं० १६६२ में अकबर की मृत्यु के उपरान्त जहाँगीर बादशाह हुआ और उसने मित्रतावश रामशाह की तनिक भी चिन्ता न करते हुए वीरसिंह देव को समस्त बुन्देलखण्ड का एक पट्टा लिख कर अधिपति घोषित कर दिया। रामशाह और वीरसिंहदेव में गद्दी के लिए संघर्ष हुआ किन्तु निदान रामशाह पराजित हो दिल्ली प्रस्थान कर गए और वीरसिंहदेव राजा हुए। केशव इनके दरबार में भी आदृत हुए यद्यपि पूर्ववत सम्मान तो नहीं पा सके। इन्हीं वीरसिंहदेव के यशोगानार्थ उन्होंने 'वीरसिंह चरित' की रचना

की। ये जहाँगीर के दरबार में भी रहे और उनकी प्रशंसा में 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' का निर्माण किया।

कुछ समय तक इन्होंने सखी सम्प्रदाय के मतानुयायी केशवराय के सुपुत्र हिन्दी के सुप्रसिद्ध शृंगारी कवि बिहारी को भी काव्य-कला की शिक्षा दी थी। सम्भवतः यह कार्य उन्होंने वृद्धावस्था से पूर्व ही किया था क्योंकि केशश्वेतता के पश्चात् ये विरक्त हो गए थे, जिसके परिणामस्वरूप सं० १६६४ में इन्होंने 'विज्ञान गीता' नामक पुस्तक लिखी। 'जहांगीर-जस-चन्द्रिका' का रचना-काल सं० १६६६ है। अतः इनकी मृत्यु सं० १६७० के पश्चात् हुई होगी। कुछ लोग इनका मृत्युकाल १६७४ मानते हैं।

रचनाएँ—केशवदास कृत नौ ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—रतनाबावनी, रसिक-प्रिया, कविप्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंहदेव चरित, विज्ञानगीता और जहाँगीर-जस-चन्द्रिका, नखसिख और रामालंकृतमञ्जरी।

रतन बावनी—केशवदास का सर्वप्रथम ग्रन्थ है, जिसमें बावन छन्दों में इन्द्रजीतसिंह के बड़े भाई रतनसिंह की वीरता का ओजपूर्ण वर्णन है। इसमें अधिकांशतः छप्पय छन्द का प्रयोग हुआ है। यह रचना सम्भवतः इनकी बहुत पहले की है। यद्यपि ग्रन्थ में प्रौढ़ काव्य-कला दृष्टिगोचर नहीं होती तथापि एक बात ध्यान देनें योग्य है कि इन्होंने एक नूतन प्रणाली निकाली जिसका अनुसरण भूषण ने भी किया और 'शिवाबावनी' लिखी।

रसिक प्रिया—की रचना सं० १६४८ में हुई। इसमें प्राचीन संस्कृत रीति ग्रन्थों के अनुसार रस का विवेचन है। नव रसों में शृंगार की श्रेष्ठता दिखला कर उसे रसराज की पदवी पर विभूषित किया है। यही नहीं, शृंगार में सभी रसों का समावेश बड़ी सफलता से सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। केशवदास ने रसिकप्रिया में रस का विवेचन करते हुए संस्कृत ग्रंथों से एक विशेषता यह रखी है कि शृंगार के प्रच्छन्न और प्रकाश दो भेद और कर दिए हैं। नायिका भेद में भी उन्होंने इन भेदों को रखा है। नायिका-भेद तो इन्होंने बड़ी सुन्दरना से प्रदर्शित किया है परन्तु नायिका के सामान्य प्रथम तीन भेदों, सामान्या (वेश्या) को परिगणित नहीं किया है। सम्भवतः इसलिए कि यह ग्रन्थ इन्होंने इन्द्रजीतसिंह के कहने पर लिखा और इन्द्रजीतसिंह के यहाँ रायप्रवीन नाम की वेश्या रहती थी जिसे केशवदास ने काव्य-शास्त्र की शिक्षा दी थी और तदुपरान्त महाराज ने जिसे पत्नी रूप में ग्रहण कर लिया था। इस ग्रन्थ में जो उदाहरण दिए गए हैं वे बड़े सरस एवं सहृदय-मनहारी हैं।

कविप्रिया—की रचना कवि ने सं० १६५८ में की थी। इसी वर्ष

अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचन्द्रिका का भी निर्माण किया था परन्तु कविप्रिया रामचन्द्रिका से पूर्व निर्मित हुई यह निर्विवाद है। यह इनकी प्रौढ़ावस्था का ग्रन्थ है, जिसमें संस्कृत ग्रन्थों का अत्यधिक सहारा लिया गया है। इसमें विशेषतः काव्यालंकरों का विवेचन है परन्तु उनके अतिरिक्त काव्य एवं कवि के गुण-दोषों पर भी प्रकाश डाला गया है तथा बारहमासा, नख-सिख एवं चित्रकाव्य का सुन्दर चित्रण है। सामान्यतः ध्वनिकाव्य को उत्तम, गुणीभूत-व्यंग्य काव्य को मध्यम और चित्रकाव्य को अधम काव्य कहा जाता है परन्तु केशवदास ने देवकाव्य को उत्तम, नर काव्य को मध्यम और सदोष काव्य को अधम लिखा है। उन्होंने कविरीतियाँ भी तीन लिखी हैं। यह कवि-कविता-भेद एवं रीति-प्रसंग केशर मिश्रकृत 'अलंकार शेखर' के आधार पर लिखा है। कविता के उन्होंने अठारह दोष लिखे हैं—

• अन्ध, वधिर, पंगु, नग्न, मृतक, अगन, हीनरस, यतिभंग, व्यर्थ, अपार्थ, हीनक्रम, कर्णकटु, पुनरुक्ति, देशविरोध, कालविरोध, लोकविरोध, कायविरोध और आगमविरोध।

इनमें से प्रथम पाँच दोष केशव की अपनी सूझ है। परन्तु इनमें मौलिकता सर्वत्र वास्तविकता को नहीं पहुँची, यथा केशव ने अलंकारहीन कविता में नग्न दोष बतलाया है परन्तु कहीं-कहीं निरलंकार कविता उच्च कोटि की होती है। पंगु दोष, यतिभंग दोष को अपने में समाविष्ट कर लेता है। शेष तेरह दोषों में व्यर्थ, अपार्थ, देशविरोध, कालविरोध, न्यायविरोध और आगमविरोध दण्डी के अनुसार है। केशव ने जिसे यतिभंग दोष लिखा है, दण्डी ने उसे यतिभ्रंश लिखा है। केशव का लोकविरोध और दण्डी का कलाविरोध समान हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केशव ने इस विषय में दण्डी का अत्यधिक अनुकरण किया है।

इस ग्रन्थ में अलंकारों का इतना महत्व प्रदर्शित किया गया है कि रस-रीति आदि को भी अलंकार के ही अन्तर्गत माना है। ये चमत्कारवादी कवि थे। अतः इन्हें अलंकार अधिक प्रिय थे और इसी कारण उन्होंने रसादि का अलंकार की ही सीमा में समाविष्ट करने के लिए भामह, उद्भट और दण्डी का आश्रय लिया है, न कि मम्मट, आनन्दवर्धनाचार्य एवं विश्वनाथ का जिन्होंने साहित्य-सिद्धान्तों का समुचित एवं सर्वमान्य रूप हमारे समक्ष रखा। इन्होंने अलंकारों की प्रशंसा में स्वयं एक स्थान पर लिखा है—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न विराजई कविता बनिता, मित्त॥

अलंकार प्राधान होने के ही कारण कविप्रिया को स्वयं केशवदास ने बड़ा श्लाघ्य ग्रन्थ माना है और उसकी प्रशंसार्थ लिखा है—

कंठमाल ज्यों कविप्रिया, कंठ करौ कविराज।
कविप्रिया है कविप्रिया, कवि संजीवनि जानि॥

केशवदास ने अलंकार शब्द का बड़ा व्यापक अर्थ लिखा है और अलंकारों के कुछ विलक्षण भेद भी किये है। इन्होंने अलंकार के सामान्य और विशेष दो भेद किए हैं। सामान्य के अंतर्गत वर्ण, वर्ण्य, भूमिश्री, और राज्यश्री भेद रखे हैं। वर्ण में बतलाया है कि कवियों को किन-किन वस्तुओं का किस-किस रंग में वर्णन करना चाहिए। वर्ण्य मे वस्तुओं का आकार भूमिश्री मे विशेषताओं से युक्त प्राकृतिक वस्तुओं का विवरण एवं राज्यश्री मे राजा और मंत्री आदि का सम्बन्ध प्रतिपादित है। इस विषय में केशव ने अमर रचित 'काव्यकल्प लतावृत्ति' और केशव मिश्रकृत 'अलंकार शेखर' से सहायता ली है। विशेष के अन्तर्गत प्राय: सभी वास्तविक काव्यालंकार माने हैं। इन्होंने सैंतीस अलंकार माने हैं।

केशव ने अनेक अलंकारों के लक्षण दण्डीकृत 'काव्यादर्श' से ग्रहण किए हैं तथा तद्विषयक अनेक बातें अमर रचित 'काव्य कल्पलता वृत्ति' एवं केशव मिश्रकृत 'अलंकार शेखर' से ली हैं। प्राचीन रीति ग्रन्थों का आश्रय लेते हुए भी इन्होंने मौलिकता लाने के लिए भेदोपभेद एवं लक्षणों मे बड़ी गड़बड़ की है। यथा—उपमा के २२ भेदों में से १५ तो काव्यादर्श से लिए हैं तथा पाँच को इतर नामों से विवेचित किया है और शेष इनके दो भेद संकीर्णोपमा और विपरीतोपमा में से द्वितीय को तो उपमा ही नहीं कहा जा सकता। आक्षेप के ९ भेदों में ४ तो इनके हैं और शेष पांच दण्डी के ही हैं, जिनमें मूर्छाक्षेप को मरणाक्षेप कर दिया है। दण्डी ने विरोध से पृथक् विरोधाभास नहीं माना है। केशव ने उसे पृथक् माना है परन्तु विरोध का उदाहरण विरोधाभास का उदाहरण हो गया है। केशव का उत्प्रेक्षालंकार दण्डी से नहीं मिलता। केशव का विशेषालंकार विभावना का भेद हो गया है। केशव ने अर्थान्तरन्यास के उपभेद तो दण्डी के अनुसार रक्खे हैं परन्तु उनकी परिभाषाएँ एवं उदाहरण भिन्न रूप से हैं। केशव का मुक्त अलंकार उनके स्वभावोक्ति से भिन्न नहीं। सुसिद्ध, प्रसिद्ध एवं विपरीत ये तीन अलंकार बड़े विलक्षण हैं, जिनके आधार का पता नहीं। केशव ने रूपक के केवल तीन भेद मानें हैं। उत्तर अलंकार के भेद तो बिलकुल पहेली बन गए हैं।

केशवदास ने दो प्रबन्ध-काव्य लिखे। एक रामचन्द्रिका और दूसरा

वीरसिंह देव चरित । रामचन्द्रिका इनका सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है । अतः हम इस पर केशव के अन्य ग्रन्थों का परिचय देने के पश्चात् लिखेंगे । वीरसिंह देव-चरित नामक काव्य मे इन्होंने महाराज वीरसिंहदेव का चरित्र अंकित किया है । अकबर की मृत्यु के पश्चात् सं० १६६२ में जहाँगीर दिल्ली-पति हुआ और उसीने राजा रामशाह के स्थान पर वीरसिंह देव को राजा घोषित किया। केशवदेव पहले से ही दरबारी कवि थे। अतः अब भी प्रतिष्ठा के पात्र रहे और अपने नवीन शासक की प्रशंसा मे उक्त ग्रंथ लिखा। यदि जहाँगीर के सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् ही उपर्युक्त घटना घटी तो फिर इस ग्रन्थ का रचना काल सं० १६६३ या १६६४ मानने में कोई आपात्त नही। यद्यपि यह ग्रन्थ वृद्धावस्था में लिखा था तथापि इसकी रचना उच्च-कोटि की नहीं। इसमें दान आदि का वर्णन है। अतः अतिरञ्जना का प्राधान्य है और रामचन्द्रिका जैसे महाकाव्य के पश्चात् पकी अवस्था में अपने आश्रय दाता की चाटुकारितार्थ। अतएव अन्यमनस्क भाव से उदासीनतावश लिखा होने के कारण कला अपने पूर्ण यौवन में दिखलाई नहीं देती और चरित्र-चित्रण में सौंदर्य का अभाव है।

विज्ञान गीता—में विरक्तिमूलक ज्ञान की चर्चा है । इसमें २१ अध्याय हैं, जिनमें से १२ मे विवेक एवं महामोह के युद्ध का वर्णन है । यह एक रूपक के रूप में लिखा गया है, जिसमें मानव-हृदय के सद्भावों एवं उनके संघर्ष का बड़ा सूक्ष्म किन्तु रोचक विवेचन है। संग्राम-विषयक सामग्री कवि ने संस्कृत के प्रबोधचन्द्रोदय नाटक से ली है। शेष नौ अध्यायों में ज्ञान का स्वरूप एवं महत्व वर्णित है। इनका आधार श्रीमद्भगवद्गीता और योगवाशिष्ठ प्रतीत होते हैं । इस ग्रन्थ में बौद्धों और सखी सम्प्रदाय के अनुयायियों की बड़ी निन्दा की गई है। इस ग्रन्थ के अन्तिम १२ अध्याय सुन्दर हैं। यह ग्रन्थ प्रौढ़ावस्था में लिखा गया था तथापि इसकी गणना कविप्रिया, रसिकप्रिया एवं रामचन्द्रिक के साथ नहीं की जा सकती। क्योंकि कवि ने यह ग्रन्थ काव्य का दृष्टि से नहीं वरन विरक्तिवश लिखा था। अतः इसमें काव्यकला का पूर्ण समावेश नहीं हुआ है।

जहांगीर-जस-चन्द्रिका—कवि का अन्तिम ग्रन्थ प्रतीत होता है, क्योंकि इसकी रचना सं० १६६९ में हुई। जहाँगीर और वीरसिंहदेव दोनों मित्र थे क्योंकि जहांगीर के संकेत से ही वीरसिंह देव ने अकबर के परम मित्र अबुलफजल की हत्या कर डाली थी और इसी के परिणामस्वरूप गद्दी पर बैठते ही जहांगीर ने वीरसिंह को राजा बना दिया था। केशव ने प्रथम

वीरसिंहदेव की प्रशंसा में वीरसिंहदेव चरित लिखा और पुनः अपने आश्रयदाता के मित्र के नाते जहांगीर की प्रशंसा में उल्लिखित ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ भी उपर्युक्त कारणों से उच्चकोटि का नहीं है।

नखशिख—में केशवदास ने नायिका के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन किया है। लाला भगवान्दीन ने इस ग्रन्थ को छतरपुर में देखा था परन्तु अभी तक यह प्रकाशित नहीं हुआ है। लाला भगवानदीन जी के अनुसार यह ग्रन्थ भी साधारण कोटि का है।

ी—सम्भवतः पिंगल का ग्रंथ था। यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है।

रामचन्द्रिका—केशव को अमर कीर्ति दिलाने वाली उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति रामचन्द्रिका है। इसका निर्माण सं० १६५८ मे हुआ था। इसी वर्ष कविप्रिया की रचना समाप्त हुई थी और वह रामचन्द्रिका से कुछ पूर्व। इस प्रकार कवि ने अपने उत्कृष्ट दो ग्रन्थों की रचना साथ-साथ की। कहा जाता है कि एक बार केशवदास तुलसीदास से मिलने के लिए गए। जब वे वहाँ पहुँचे और तुलसीदास को उनके आने की सूचना मिली तो उन्होंने आज्ञा दी कि प्राकृत कवि केशवदास को आने दो। केशदास ने यह सुना तो वे यह सोचकर क्षुब्ध हुए कि तुलसीदास को अभिमान हो गया है और वहाँ से लौटते ही एक रात में रामचन्द्रिका की रचना कर डाली। यह कथन कुछ संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि तुलसीदास का उपर्युक्त वाक्य उनके अभिमान को प्रदर्शित नहीं करता और काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ केशव भी सीधे-साधे वाक्य का अन्य अर्थ लगा कर क्षुब्ध भी कैसे हो सकते थे। इसके अतिरिक्त इतना बृहत् ३९ प्रकाशों में समाप्त एवं सैकड़ों ही छन्द और अलंकारों का विशाल भाण्डार रूप ग्रन्थ भला एक रात में समाप्त कैसे हो सकता है! ग्रन्थ का पर्यालोचन हमें इस परिणाम पर लाता है कि इसकी रचना बड़े अध्ययन और विचार के साथ हुई है। क्योंकि कवि ने ईसे महा-काव्य का रूप दिया है।

साहित्य-दर्पणकार पण्डित विश्वनाथ ने महाकव्य का लक्षण बताते हुए लिखा है कि महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए, जिसका नायक धीरोदात्तादि गुणों से युक्त देव या सत्कुलोत्पन्न क्षत्रिय हो। इसमें शृंगार, वीर एवं शान्त रस में से किसी एक की प्रधानता हो तथा आदि में मंगलाचरण अथवा वस्तुनिर्देश हो, कहीं पर खलों की निन्दा और सज्जनों की स्तुति हो, प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द हो किन्तु सर्गान्त में छन्द भेद हो, वे सर्ग न छोट

हों और न बड़े और सर्ग संख्या आठ से कम न हो तथा सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रजनी, प्रदोष, प्रभात, मध्याह्न, पर्वत, वन, सागर और ऋतुओं का वर्णन हो।

रामचन्द्रिका में महाकाव्य के ये सभी लक्षण मिलते है। सूर्यकुलोत्पन्न पुरुषोत्तम रामचन्द्र इसके नायक हैं, जो धीरोदात्तादि गुणों से युक्त हैं। यह ग्रन्थ ३९ प्रकाशों में समाप्त हुआ है। इसके प्रारम्भ मे मंगलाचरण तथा कहीं-कहीं खल निन्दा एवं सज्जन-स्तुति भी है। इसमें शृंगार, वीर एवं शान्त रसों का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। लक्षण से विलक्षण एक बात अवश्य मिलती है कि इसके प्रकाशों में स्थान-स्थान पर छन्द-परिवर्तन हुआ है और इस प्रकार अनेकों ही छन्दों का प्रयोग हुआ है। परन्तु इससे उसके महाकाव्य होने में कोई विशेष बाधा उपस्थित नही होती। इस काव्य में सूर्योदय, वर्षा, शरद्, वाटिका एवं ऋषि-आश्रम आदि का बड़ा मनोरम वर्णन है।

इस प्रकार 'रामचन्द्रिका मे महाकाव्य के सभी लक्षण विद्यमान हैं परन्तु इसकी प्रबन्ध-कल्पना मे कुछ शिथिलता दीख पड़ती है। राम-कथा को केशव ने अनेक स्थलों पर संक्षिप्त और इच्छानुसार परिवर्त्तित करने का प्रयत्न किया है। कथारम्भ में रामजन्म का विशेष रूप से वर्णन नहीं है। शिक्षा-दीक्षा आदि का वर्णन न कर चारों भाइयों के सम्बन्ध में थोड़ा-सा लिख कर विश्वामित्र को दरबार में ला उपस्थित किया है। ताड़कादि के बध का वर्णन भी संक्षिप्त है। प्रधान कथावस्तु के बीच-बीच में अनेक अप्रासांगिक वर्णन जोड़ दिए गए हैं जिनसे अधिकारिक कथा में अविछिन्नता-सी नहीं रह पाई है। कथा का तार तो विच्छिन्न नहीं हुआ है परन्तु अप्रासंगिकता की प्रचुरता होने से मूल कथा में विच्छित्ति जैसी प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त रामचरित मानस में जिन स्थलों का मार्मिकता से अंकित किया गया है, केशव ने उन्हें या तो लिखा ही नहीं या फिर अति संक्षेप से लिखा है। उपर्युक्त पहली बात को हम कुछ अंश तक मानते हैं क्योंकि वर्णन-बाहुल्य और सूक्ष्मता-परक कवि की मनोवृत्ति ही इसके प्रत्यक्ष प्रमाण है। दूसरी बात यह है कि महाकाव्य के लक्षण में जो यह लिखा है कि सर्ग में एक छन्द हो और सर्गान्त में भिन्न-छन्द हो, यह साभिप्राय है। क्योंकि वृत्तैकता से विचार-तारतम्य में बाधा नहीं आती और सर्गान्त में वृत्त-भिन्नता से एक अनवरत विचार की समाप्ति की सूचना दी जाती है। परन्तु केशव का पग-पग पर वृत्तपरिवर्त्तन भाव-धारा में उनकी एकरूपता बद्धमूलक मनोवृत्ति को प्रदर्शित नहीं करता वरन् कला प्रदर्शन की अभिरुचि को ही

बोधित करता है और छन्द भेद भावभेद का प्रायः कारण होता है । अतएव वर्ण-बाहुल्य हो गया है। दूसरी बात को हम मानने के लिए उद्यत नहीं क्योंकि 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' के अनुसार केशव का भी उन्हीं स्थलों को मार्मिक समझना, जिन्हें तुलसीदास ने माना, कोई आवश्यक नहीं। और यों रामचन्द्रिका में भी ऐसे स्थलों की कमी नहीं है । उदाहरणतः रामाश्वमेध का प्रकरण ही इतना सरस और मार्मिकता से पूर्ण है कि कोई भी पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता ।

कहीं-कही ऐसा भी देखा गया है कि कथा-विस्तार को समाप्त करने के लिए अन्य पात्र की उद्भावना की गई है । राम-परशुराम का विवाद समाप्त कराने के लिए भगवान् शंकर का उपस्थित होना ऐसी ही घटना है। मिथिला में सीता स्वयंवर से 'अब सिय लिये बिन हौं न टरौं' कहने वाले रावण को सहसा एक निशाचर के करुण-क्रन्दन द्वारा जाने के लिए बाध्य किया गया है । प्रगाढ़ प्रेम से परिपूर्ण भरत पर सन्देह करके राम ने लक्ष्मण को उस पर सूक्ष्म दृष्टि रखने के लिए आदेश दिया है । केशव की यह उद्भावना राज्याश्रय में पले कूटनीतिज्ञ कवि की उद्भावना है । कथा एवं वर्णन-विभिन्नता में प्रसन्नराघव आदि संस्कृत के अनेक ग्रंथों का प्रभाव भी कारण है ।

कवि के अलंकार-प्रेम ने प्रबन्धता में बड़ी बाधा उपस्थित की है । क्योंकि श्लेषादि अलंकार दुरूहता के कारण हैं और दुरूहता कथा-प्रवाह और विषय-सारल्य की बाधिका है ।

कुछ लोगों का कथन है कि केशव प्रकृति के उपासक नहीं थे अतः उन्होंने अनेक स्थलों पर प्रकृति का वर्णन तो किया पर वास्तव में कर न पाए और कहीं-कहीं पर भूल भी कर गए हैं, यथा विश्वामित्र के तपोवन में एला, लवंग एवं पुंगीफलों का वर्णन करते हैं। परन्तु यहां यह बात ध्यान में रखने की है कि केशव ने उस तपोवन को विचित्रवन कहकर उसमें अलौकिकता मानी है। इनके प्रकृति-वर्णन में एक बात अवश्य विचारणीय है कि उसमें संश्लिष्टता, सजीवता एवं सहजता नहीं प्रत्युत् आलंकारिकता अधिक है । विचित्र उपमानों का संग्रह, श्लेष-संविधान और विचित्र योजना प्रकृति-वर्णन की प्राकृतिकता में बाधक हैं ।

उपरिलिखित कुछ बातों का समाधान तो साथ ही कर दिया गया है, अवशिष्ट बातों के विषय में इतना अवश्य कहना पड़ता है कि केशव के महाकाव्य का आदर्श नैषधचरित, किरातार्जुनीय एवं शिशुपालबध आदि महा-

काव्य थे, जिनकी प्रबन्धता मे वर्णन-विस्तार तथा अलंकार योजना को ही विशेष महत्व दिया गया है। इसी प्रकार सरोवर, उपवन, युद्ध एवं सेना की तड़क-भड़क का विस्तृत और विलक्षण वर्णन तथा दान-महिमा और लोभ-निन्दा आदि का ठूँसा जाना अवश्य अखरता है। बहुश: वृत्तपरिवर्तन भी अखरता है।

केशव का चरित्र-चित्रण उतना प्राञ्जल नहीं जितना तुलसी का। केशव के राम तुलसी के अवतारी राम नहीं वरन् बाल्मीकि के मर्यादा पुरुषोत्तम राम हैं जिनमें देवत्व की अपेक्षा मनुष्यत्व और अलौकिकता की अपेक्षा मानवीय पूर्णता अधिक है। केशव के राजा राम निष्कपट भरत पर भी सन्देह करते और लक्ष्मण को उसपर सूक्ष्म दृष्टि रखने का आदेश देते है जबकि तुलसी के राम लक्ष्मण के सन्दिग्ध मन को भरत का गुणगान करके निर्मल बना देते हैं। सीता, कौशल्या और केकयी आदि नारियाँ भी उच्च स्तर पर नहीं आ सकी है। केशव की सीता एक नायिका के रूप मे दीख पड़ती है, जिसमे रामचरितमानस की सीता की शालीनता और गम्भीरता नही। जब राम श्रान्त सीता के श्रम-निवारणार्थ वल्कलवस्त्र के अञ्चल से पंखा करते है तो सीता चञ्चल-चारु-दृगञ्चल से उनका श्रम हरती है।

रघुकुलश्रेष्ठ महाराज दशरथ की ज्येष्ठा धर्मपत्नी महिषी कौशल्या मानस में उदारता और उच्चता की मूर्ति हैं परन्तु रामचन्द्रिका की कौशल्या राम-बनवास सुन विचलित हो जाती हैं और यहाँ तक कि राम के साथ बन जाने के लिए उद्यत हो जाती हैं। राम-केकयी-काण्ड में मन्थरा की उद्भावना न कर केशव ने केकयी-चरित्र को अत्यन्त दूषित कर दिया है। भरत और लक्ष्मण का चरित्र तो तनिक भी विकास को प्राप्त नहीं हुआ है। प्रयाग और चित्रकूट में भरत का जो सुन्दर रूप हमें मानस में दीख पड़ता है वह यहाँ नहीं। लक्ष्मण की उग्रता रामचन्द्रिका में भरत ने ले ली है। बन जाते समय राम अपनी माँ को भी पतिव्रत का उपदेश देते हैं, कैसी विलक्षण बात है।

काव्य-आदर्श के अतिरिक्त चरित्र-चित्रण मे भी केशव ने स्वतंत्रता अधिक दिखाई है परन्तु वह भी सम्भवतः उपर्युक्त प्रणाली का ही परिणाम है।

रामचन्द्रिका में दशरथ-विश्वामित्र संवाद, रावण-बाणासुर-संवाद, राम-परशुराम-संवाद, सूर्पणखा-राम-लक्ष्मण-संवाद, रावण-हनुमानसंवाद, रावण-अंगद-संवाद एवं सीता-रावण-संवाद बड़े मनमोहक हैं।

केशवदास महान् पण्डित थे। अतः उन्होंने संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया था। जिस प्रकार तुलसी के रामचरितमानस में अनेक संस्कृत के

ग्रन्थों के अनेक श्लोकों का भाषानुवाद एवं छायानुवाद दीखता है, उसी प्रकार रामचन्द्रिका में भी। विशेषतः 'प्रसन्नराघव नाटक' और 'हनुमन्नाटक' का विशेष प्रभाव दीख पड़ता है। कुछ पद्य तो ज्यों के त्यों अनूदित हैं, यथा—

प्रसन्नराघव—

मौर्वीधनुस्तनुरियं च विभर्ति मौञ्जी।
बाणाः कुशाश्च विलसन्ति करे सिताया।
धारोज्ज्वलः परशुरेष कमण्डलुश्च।
तद्वीरशान्तरसयोः किमयं विकारः॥

रामचन्द्रिका—

कुस मुद्रिका समधैं श्रुवा कुस औ कमंडल को लिये।
कटिमूल श्रोनीन तर्कसी भृगुलात सी दरसै दिये।
धनुबान तिच्छ कुठार केशव मेखला मृगचर्म स्यौ।
रघुवीर को यह देखिये रस वीर सात्विक धर्म स्यौ॥

प्रसन्नराघव—

यः काञ्चनमिवात्मानं निक्षिप्याग्नौ तपोमये।
वर्णोत्कर्षगतः सोऽयं विश्वामित्रो मुनीश्वरः।

रामचन्द्रिका—

जिन अपनो तन स्वर्न, मेलि तपोमय अग्नि में।
कीन्हों उत्तम वर्न, तेहि विश्वामित्र ये॥

हनुमन्नाटक—

कस्त्वं बालितनूद्भवो रघुपतेर्दूतः सः बालीति कः।
को वा बानर राघवः समुचिता ते बालिनो विस्मृतः।
त्वां बध्वा चतुरम्बुराशिषु परिभ्राम्यन्मुहूर्तेन यः।
सन्ध्यामर्चयति स्म निस्त्रप कथं तातस्त्वया विस्मृतः॥

रामचन्द्रिका—

कौन के सुत? बालि के, वह कौन बालि न जानिये?
काँख चाँपि तुम्हें जो सागर सात न्हात बखानिये।
है कहाँ वह वीर? अंगद देवलोक बताइयो।
क्यों गयो? रघुनाथ-बान-विमान बैठि सिधाइयो॥

इस प्रकार और भी अनेक श्लोकों का अनुवाद है। परन्तु केशवदास इनकी योजना अपने वर्णनों में अपने मूल के अनुसार नहीं कर पाए हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भास, कालीदास एवं बाणादि कवियों के अनेक श्लोकों, श्लोकांशों एवं वाक्यांशों का भावानुवाद हम रामचन्द्रिका में पाते हैं—

भासकृत बालचरित नाटक—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टि विफलतां गता॥

रामचन्द्रिका—

वर्णत केशव सकल कवि, विषम गाढ़ तम सृष्टि।
कुपुरुष सेवा ज्यों भई, संतत मिथ्या दृष्टि॥

रघुवंश—

आसमुद्र क्षितीशानां ।

रामचन्द्रिका—

आसमुद्र क्षितिनाथ ।

कादम्बरी—

विमानीकृतराजहंसमंडलः कमलयोनिरिव।

रामचन्द्रिका

विधि के समान हैं विमानीकृत राजहंस।

केशव की काव्य-कला—केशव अलंकारवादी कवि थे। पहले कहा जा चुका है कि वे दण्डी आदि के मार्ग पर चले थे। सर्वगुण सम्पन्न कविता में अलंकारों का बाहुल्य उन्हें अधिक रुचता था। उन्होने कविप्रिया में लिखा है—

जदपि सुजाति सुलच्छनि, सुवरन सरस सुवृत्त।
भूखन बिनु न विराजही, कविता बनिता मित्त॥

अर्थात्, उत्तम, सुन्दर लक्षणवती, रसानुकूल वर्ण-विन्यास से युक्त अतएव उपयुक्त गुणवती एवं सुन्दर छन्दों से युक्त भी कविता अलंकारों से यदि हीन हो तो उसी प्रकार शोभा नहीं पाती जिस प्रकार उच्चकुलोत्पन्ना, सुलक्षणा, सुन्दर वर्ण से युक्त एवं लावण्यवती भी कोई कामिनी भूषणो से विहीन होने पर शोभा नहीं पाती।

केशवदास ने प्रवीणराय की बाणी के गुण वर्णित करते हुए लिखा है—

अमल, अदूषित, सुभूषणनि भूषित,
सुवरन हरन मन सुर सुखदानी है।

इसमें अमल से तात्पर्य उत्तम, अदूषित से दोषहीन, सुभूषणनि भूषित से सालंकार तथा सुबरन से सगुण और मनहरन से चमत्कार युक्त है। इस प्रकार कवि परोक्षतः कविता के ही गुण बतला रहा है। काव्य प्रकाशकार मम्मटाचार्य नें भी यही लिखा है—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

अर्थात् दोषों से हीन, गुणों से युक्त, सालंकार किन्तु कहीं अलंकारहीन भी शब्द और अर्थ काव्य होते हैं।

केशव नें संस्कृत के अलंकार प्रिय कवियों का अनुसरण करते हुए ही अलंकारों को महत्व दिया था। उन्होंने प्रायः प्रत्येक पद्य सालंकार ही लिखने का प्रयत्न किया है। अलंकारों में उत्प्रेक्षा, रूपक, श्लेष, सन्देह और परिसंख्या का प्रयोग इन्होंने अधिक किया है। अलंकारों का बाहुल्य होने से प्रबन्ध-प्रवाह में बाधा-सी अवश्य जान पड़ती है परन्तु सालकार स्थलों पर ही केशव का काव्य खिल पड़ा है। कवि के प्रकृति-वर्णन में अलंकारों की जिस छटा को हम देख पाते हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है। वास्तव मे कवि केशव इस विषय के पूरे पण्डित थे। रावण सीता को प्रलोभन देता है परन्तु उन्हीं शब्दों मे स्तुति भी छिपी हुई है—

अदेवी नृदेवी न की होहु रानी।
करैं सेव बानी मघौनी मृडानी।
लिये किन्नरी किन्नरी गीत गावें।
सुकेशी नचें उर्वशी मान पावें॥

ऐसी वाक्पटुता केशव के ही अगाध पाण्डित्य का प्रतिफल है। काव्य वास्तव में सहृदय व्यक्ति के लिए होता है न कि नीरस एवं मूर्ख के लिए। सहृदय व्यक्ति को साधारण वाक्य कभी चमत्कार पूर्ण प्रतीत नही होता। अतः वस्तु, भाव, एवं रस-व्यंजना के साथ-साथ अलंकारों का बड़ा महत्व है। यदि केशव ने अलंकारों का विधान प्रचुरता से किया है तो कोई काव्य-क्षति नहीं।

सालंकार होने के अतिरिक्त केशव का काव्य सगुण और अदोप भी है। रसानुकूल माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों की सत्ता रस-परिपाक में बड़ी सहायक हुई है। काव्य-शास्त्र एवं छन्दशास्त्र के पण्डित होने के कारण केशव का काव्य कहीं भी दूषित नहीं होने पाया है। कहीं-कहीं क्लिष्टता अवश्य दीख पड़ती है परन्तु वहीं जहाँ श्लेपादि अलंकारों का प्रयोग हुआ है और अलंकारों का प्रयोग अनेक स्थलों पर क्लिष्टता लाता ही है परन्तु अलंकार-क्लिष्टता काव्य का दूषण नहीं हो सकती। अतः केशव के काव्य मे भी यह कोई दोष नहीं कही जा सकती। कुछ लोगों का कथन है कि शृंगार-वर्णन में कवि अनेक स्थानों में अश्लील वर्णन कर गया है और कहीं-कहीं पर प्रकृति-विरुद्ध भी लिख गया है। दण्डकारण्य में राम श्रान्त सीता का बल्कल वस्त्राञ्चल से श्रम हरते हैं और सीता चञ्चल-चारु-दृगञ्चल से उनका श्रम हरती है, यह दो दिव्य पुरुषों के विषय में अश्लीलतापूर्ण वाक्य है। परन्तु हमें ध्यान में रखना चाहिए कि केशव ने राम-सीता को विष्णु और लक्ष्मी का अवतार नहीं माना वरन् श्रेष्ठ नर-नारी के रूप में ग्रहण

किया है। इसी प्रकार प्रवीणराय को रमा और शची कहना एक वेश्या को ऐसा कहना नही वरन् कवि की सुशिष्या एवं विदुशी रायप्रवीणा तथा राजा इन्द्रजीतसिंह की परिणीता पतिव्रता भार्या के लिए ऐसा कहना है।

केशव प्रधानतः शृंगारी कवि हैं—रसिकप्रिया मे शृंगार की अनुपम छटा दीख पड़ती है। यद्यपि कतिपय विद्वानों के अनुसार वह वर्णन असंयत है परन्तु हमारी दृष्टि में ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि रसिकप्रिया रस-ग्रन्थ है। अतः शृंगार-चित्रण में उसके वास्तविक स्वरूप का चित्रण तभी हो सकता है जब उपयुक्त उदाहरण दिए जाएँ और रस की दृष्टि से वे कभी भी अश्लील नही कहे जा सकते। शृंगारी कवि विद्यापति ने सम्भोग शृंगार में सुरतादि का जो स्फूर्तिदायक वर्णन किया है, क्या वह अश्लील है ? नहीं, कदापि नही क्योंकि शृंगार के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन करते हुए उसके स्थायीभाव की पुष्टि के लिए अनेक संचारियों का चित्रण करना ही होगा और यदि उससे पाठक को उत्तेजना मिलती है तो काव्य का दोष नहीं। यदि आप किसी वस्तु को दिखाना चाहते हैं तो उसका प्रदर्शन तभी पूरा होगा जब आप उसके सभी रूपों पर प्रकाश डालेंगे। दूसरी बात यह है कि ये श्रव्य काव्य हैं, दृश्य नहीं, जो रंगमंच पर अभिनीत हों और पाठकों में भी अधिकारी भेद है। अतः ये सामाजिक दृष्टि से भी हेय नहीं। रामचन्द्रिका में भी संयोग और वियोग का सुन्दर चित्रण हुआ है।

शृंगार के अतिरिक्त वीर रस का भी सुन्दर परिपाक हमें इनकी रचनाओं में मिलता है। रतनबावनी में इस रस का बड़ा ओजस्वी चित्रण है। रामचन्द्रिका में वीर रस का वर्णन अधिक नहीं। राम-रावण-युद्ध और राम-लवकुश-युद्ध ही इसमें वीर रस के स्थल हैं परन्तु ये दोनों ही स्थल स्फूर्तिदायक और विलक्षण हैं।

करुण, रौद्र, वीभत्स आदि रसों की यथास्थान व्यंजना इनके काव्य की सुप्रसाधिका है।

यदि गम्भीरता से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि केशव के काव्य की आत्मा यथार्थ में रस ही है और उसका प्रसाधन है अलंकार। उनका काव्य एक विलक्षणता से भरपूर है। इसका कारण यह है कि रस का सार चमत्कार होता है और चमत्कारपूर्ण शब्दार्थ में अद्भुत रस रहता है तथा अद्भुत रस विलक्षणता का उद्भावक है। प्रकृति एवं युद्धादि के वर्णनों में तो यह बात है ही, शृंगार आदि के चित्रण में भी ऐसा ही है।

केशव ने अपने काव्यों में प्रधानतः ब्रजभाषा का प्रयोग किया है,

जिसमें माधुर्य भरा हुआ है। ब्रज का विकृत रूप वर्णिक वृत्तों में हो गया है जहाँ इन्होंने गण-पूर्ति के लिए शब्द को उसी रूप में ग्रहण नहीं किया है। उनकी भाषा में बुन्देलखण्डी, संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव रूप, प्राकृत के कुछ रूप एवं फारसी, उर्दू के शब्द भी मिलते हैं। बुन्देलखण्डी शब्द, यथा गौरभदाह्न (इन्द्रधनुष), उपदि (स्वच्छन्दभाव से), चोली (पिटारी), घोरिला (खूँटी), कुची (कुञ्जी), गेंडुआ (तकिया), करिबी (करेगी) आदि। प्राकृत शब्द—बियो (दूसरा)। अपभ्रंश—किज्जिय, लिज्जिय। उर्दू-फारसी—लायक, गरीब निवाज आदि।

इनके अतिरिक्त संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द तो अनगिनत रूप में प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कहीं पर संस्कृत शब्दों का लिंग संस्कृत के अनुसार ही रक्खा गया है, यथा देवता, शब्द संस्कृत में स्त्रीलिंग है, केशव ने भी उसे स्त्रीलिंग मे प्रयुक्त किया है। कहीं पर संस्कृत की तृतीया विभक्ति को करण कारक में उसी रूप में व्यवहृत किया है, जैसे लीलयैव, निजेच्छया।

केशव ने कुछ शब्दों को विलक्षण अर्थ में प्रयुक्त किया है, यथा—'भारी' समूह के अर्थ में, 'लाँच' रिश्वत के अर्थ में और 'ऐलो' आड़ के अर्थ में।

कवि ने अपनी रचनाओं में लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है। स्थान-स्थान पर सुन्दर मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी हुआ है, यथा—

(१) प्यास बुझाइ न ओस के चाटे।
(२) भूल गई तब, सोच करत अब जब सिर ऊपर आई।
(३) सोने सिंगार ही सूखे चढ़ाइहौं, पीतर की पितराई न जाई।
(४) स्वाद कहिवे को समर्थ न, गूँगे ज्यौं गुर खाय।
(५) बीस बिसे बलवन्त हुते हुती दृग केशव रूप रई जू।

उपर्युक्त मुहावरों और लोकोक्तियों में कई तो मौलिक हैं। वास्तव में महान् कवि एवं लेखक की भाषा में अनेक वाक्य एवं वाक्य-खण्ड ऐसे होते हैं जो भविष्य में लोकोक्ति एवं मुहावरे बन जाते हैं।

रसानुकूल भाषा के प्रयोगार्थ मधुर, ओजव्यंजक एवं स्निग्ध वर्णों का प्रयोग हुआ है जिससे शब्दों में माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण अपने अपने स्थान पर सुन्दरतम रूप में व्यञ्जित हुए हैं।

कहीं-कहीं पर सालंकार होने से भाषा क्लिष्ट हो गई है। अतः केशव को 'क्लिष्ट काव्य का प्रेत' माना जाता है परन्तु यह क्लिष्टता साहित्यिक क्लिष्टता है जो उन्हीं के लिए विषय रूप धारण करती है जो भाषा का

रहस्य नही जानते, अलंकार एवं पिगल से अपरिचित और काव्य-शास्त्र से अनभिज्ञ है।

केशव ने अपनी असाधारण प्रतिभा एवं भाषा पर पूर्ण अधिकार दिखाने के लिए रामचन्द्रिका मे पिगल के प्राय: सभी छन्दों का प्रयोग किया है। प्रबन्ध काव्य में प्रत्येक सर्ग में एक वृत्त होना चाहिए, वृत्तभेद सर्गान्त में ही हो सकता है। परन्तु केशव ने इस नियम का पालन नहीं किया। कविप्रिया और रसिकप्रिया मे तो छन्द-सीमा दीख पड़ती है परन्तु रामचन्द्रिका तो मानो एक विविध वृत्तो की प्रदर्शिनी है, जिसमे पिंगल के प्रसिद्ध छन्दों के अतिरिक्त अनेक इन्ही के छन्द है, यथा—गंगोदक और पद्मावती आदि। सोमराजी, चित्रपदा, निशिपालिका एवं चोटनक आदि बड़े विलक्षण छंद भी देखने को मिलते है। कवित्त के अनेक नूतन रूप भी इसमे प्रयुक्त हुए है, जैसे—अनंगशेखर, लीलाकरन और जगमोहन आदि। ग्रन्थ के आरम्भ में ही एकाक्षरी से लेकर अष्टाक्षरी छन्दों का प्रयोग किया गया है। वास्तव में छोटे से छोटे छंद से लेकर बड़े से बड़े लौकिक एवं मौलिक सभी छंदों के प्रयोग से प्रतीत होता है कि केशव प्रबंध-काव्य की रचना में पिंगल का ज्ञान भी भराना चाहते थे। इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि उन्होंने छंद के दोष भी उनमें दे दिये हैं। कवि की अलंकार-प्रियता प्रबंधता मे इतनी बाधक नहीं जितनी वृत्तप्रियता।

केशव की विचारधारा—केशव भक्त कवि नही थे। रामचंद्रिका में राम और कविप्रिया एवं रसिकप्रिया मे जो कृष्ण का चरित्र-चित्रण किया है वह भक्तिवश नही। कृष्ण तो नायक के रूप मे अंकित हुए ही हैं, राम भी केशव द्वारा आराध्य के रूप में वर्णित नही हुए। यद्यपि उन्होंने रामचंद्रिका की रचना का कारण बतलाते हुए लिखा है—

> बालमीकि मुनि स्वप्न महुं दीन्हों दर्शन चारु।
> केसव तिनसो यों कह्यौ क्यों पाऊँ सुख सारु॥
> भलो बुरो न तू गुनै। वृथा कथा कहै सुनै।
> न राम देव गाइहै। न देव लोक पाइहै॥
> मुनिपति यह उपदेश है। जबहि भये अदृष्ट।
> केशवदास तहीं कह्यौ, रामचन्द्र जू इष्ट॥

अर्थात् जब बाल्मीकि मुनि ने स्वप्न में दर्शन दिया तो केशवदास ने सुख-प्राप्ति का साधन पूछा। तब मुनिराज ने कहा कि अन्य भली-बुरी कथाओं को छोड़ कर जब तक तू राम-गाथा न गायेगा, तुझे स्वर्ग प्राप्ति न होगी। यह उपदेश देकर ज्यों ही मुनिवर अन्तर्धान हुए, केशव ने राम को अपना इष्ट बना लिया।

इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि राम को अपना इष्ट बना लेने के उपरान्त ही रामचन्द्रिका का निर्माण किया। इसी प्रकार अनेक स्थलों पर वे राम की भक्ति प्रदर्शित करते हैं। अग्नि-परीक्षा के समय हुताशन-मध्य बैठी सीता के लिए उत्प्रेक्षा की गई है कि वह ऐसी सुशोभित हो रही है जैसी केशव के हृदय में राम की भक्ति—

ज्यौं रघुनाथ तिहारिय भक्ति लसै उर केशव के उर गीता।
त्यौं अवलोकिय आनन्दकन्द हुताशन मध्य सवासन सीता॥

इन उद्धरणों से उनकी भक्ति प्रदर्शित होती है परन्तु वास्तव में वे भक्त नहीं थे। तुलसी की भाँति राम उनके आराध्य नहीं थे। तुलसी राम-भक्ति से ओतप्रोत थे। अतः उन्होंने राम का चित्रण भगवदवतार के रूप में ही किया है। केशव राजाश्रित कवि थे अतः उनके राम राजा राम हैं। जिनका वैभव, जीवनचर्या एवं कार्यकलाप सभी राजोचित ही वर्णित हुए हैं। यही कारण है कि रामचन्द्रिका एक नर-काव्य है जब कि रामचरित-मानस भगवद्भक्ति से पूर्ण है। तुलसी को नर-काव्य पसन्द भी नहीं था, अतः उन्होंने लिखा भी है—

कीन्हे प्राकृत जन गुण गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछताना॥

भक्त कभी भी इस बात को नहीं भूलता कि उसका आराध्य कौन है। अतः जब कभी वह अपनें इष्ट के विषय में कुछ कहना चाहता है तो वह मर्यादा का ध्यान रखता है। परन्तु केशव ने ऐसी मर्यादा का तनिक भी ध्यान नहीं रखा है। उन्होंने संयमी राम का जल-बिहार में नारियों के साथ क्रीडन उसी प्रकार चित्रित किया है, जिस प्रकार कृष्णभक्त कवियों ने कृष्ण-गोपियों की रासक्रीड़ा चित्रित की है। वे लिखते हैं—

एक दमयन्ती ऐसी हरैं हँसि हंस-वंश,
एक हंसनी-सी विसहार हिये रोहियो।
भूषण गिरत एकै लेती बूढ़ि बीच बीच,
मीन गति लीन हीन उपमान टोहियो।
एकै मत कै-कै कंठ लागि लागि बूढ़ि जात,
जल देवता सी देवि देवता विमोहियो।
केशोदास आसपास भँवर भँमत जल-
केलि में जलजमुखी जलज सी सोहियो॥
क्रीड़ा सरवर में नृपति, कीन्ही बहुविधि केलि।
निकसे तरुणि समेत जनु, सूरज किरण सकेलि॥

इस पद्य में स्पष्ट झलक रहा है कि केशव की दृष्टि में राम केवल एक राजा थे, महापुरुष थे न कि अवतारी पुरुष। अन्यथा वे जलबिहार में

तरुणियों के साथ राम की ऐसी गर्हित जल-क्रीड़ा का वर्णन न करते । एक स्थान पर तो राम का वर्णन करते हुए 'किधौं कोउ ठग हौ' कह कर ठग ही बतलाते हैं । यद्यपि यह केशव का कथन नहीं और अलंकार भी सन्देह है तथापि उद्‌गार तो केशव का ही है जो स्पष्टतः ही उनके भाव का प्रकटीकरण करता है । कृष्ण को उन्होंने निपट बिलासी नायक का रूप दे दिया है । जब वृषभानु के गृह में आग लग जाती है तो और लोग तो आग बुझाने में संलग्न हैं और कृष्ण अवसर पाकर राधिका के साथ प्रेम-लीला करने लगते हैं—

ऐसे में कुँवर कान्ह सारी सुक बाहिर कै,
राधिका जगाई और युवती जगाइ कै ।
लोचन विशाल चारु चिवुक कपोल चूमि,
चंपे की माला लाल लीन्ही उर लाइ कै ॥

वैसे वे राम का महत्व मानते थे तथा उनकी उपासना में भी विश्वास रखते थे । रामचन्द्रिका में शिव-वसिष्ठ-संवाद में रामोपासना को सर्वमांगलिक बतलाया है । वसिष्ठ के उपासनाविषयक प्रश्न का उत्तर देते हुए शिव ने कहा—

सत चित प्रकाश प्रमेव । तेहि वेद मानत देव ॥
तेहि पूजि ऋषि रुचि मंडि । सब प्राकृतन को छंडि ॥

अर्थात् सभी प्राकृत दोषों को छोड़ कर सगुण ईश्वर की उपासना करो । इसी प्रकार एक स्थान पर वे ब्रह्मा के मुख से राम का गुणगान करते हुए लिखते हैं—

राम सदा तुम अन्तरयामी । लोक चतुर्दश के अभिरामी ॥
निर्गुण एक तुम्हें जग जानै । एकाद सगुणवन्त बखानै ॥
ज्योति जगै जग-मध्य तिहारी । जाय कही न सुनी न निहारी ॥
कोउ कहै न परिमान न ताकौ । आदि न अन्त न रूप न जाकौ ॥
तुमही जग हौ जग है तुमही में । तुमही विरचो मरजाद दुनी में ॥
तुमही धर कच्छप रूप धरो जू । तुम मीन ह्वै वेदन को उधरोजू ॥
यहि भाँति अनेक सरूप तिहारे । अपनी मरजाद के काज संवारे ॥

इसमें स्पष्ट ही राम को विष्णु का अवतार माना है, जो संसार-यातना के निवारणार्थ अवतार लेते हैं ।

केशव में अनेक स्थलों पर काम-क्रोध-लोभादि कषायों की निन्दा, माया-मोह की विगर्हणा तथा संसार की निस्सारता वर्णित की है । परन्तु यह सब एक अनुभवी द्रष्टा की दृष्टि से ही ।

अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि केशव कवि थे, भक्त नहीं। अतः उनकी प्रमुख रचनाएँ राम-कृष्ण को आराध्य रूप में प्रकट नहीं करतीं। हाँ, विज्ञान-गीता एक ऐसी पुस्तक अवश्य है जिसमें उनका ज्ञान देखा जा सकता है, धर्मभाव प्रकट होता है एवं सिद्धान्त पहचाना जा सकता है। राम-कृष्ण को तो वे अपनी रचनाओं में आराध्य का रूप दे ही नहीं सके। अतः सगुण के उपासक तो कहे ही नहीं जा सकते। विज्ञान-गीता पर दृष्टि डालने एवं उनकी मनोवृत्ति का झुकाव देखने से प्रतीत होता है कि वे अद्वैतवादी थे किन्तु अद्वैतवादी भी ऐसे नहीं जैसे अद्वैतवादी सन्त। अतः उनकी इस सिद्धान्त-पुष्टि के लिए अनेक प्रमाण देने व्यर्थ हैं।

केशव का स्थान और उनका आचार्यत्व—केशवदास भक्तिकाल के ढलते समय में उत्पन्न हुए। भक्ति का उत्कृष्ट रूप तुलसीदास के रामचरित मानस के साथ समाप्त हो गया था। यद्यपि बाबा वेणीमाधवदास कृत मूल गोसाईं चरित के अनुसार केशवदास तुलसीदास के समकालीन थे तथा केशवदास ने रामचरित मानस से प्रेरणा पाकर रामचन्द्रिका का निर्माण किया था तथापि भक्त तुलसीदास राजाश्रित कवि केशव को भक्ति-पथ का अनुगन्ता न बना सके। कविप्रिया और रसिक-प्रिया में भक्तों की कृष्णविषयक दिव्य प्रेमाभिव्यञ्जना वासना मूलक प्रेम में परिवर्तित हो गई। राधाकृष्ण भक्ति-भागीरथी के अमल कमल न रहे, मधुवन के लम्पट मधुप-मधुकरी हो गए। रामचन्द्रिका में भी तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम केवल नरश्रेष्ठ रह गए और कामी की भाँति सीता की मनुहार करते तथा इतर रमणियों के साथ जलक्रीड़ा करते हुए दृष्टिगोचर हुए।

इस परिवर्तन के कई कारण थे। जिस मुगल शासन की नींव सं० १५८३ में बाबर ने डाली थी वह ३० वर्ष पश्चात् अकबर के समय तक सुदृढ़ हो गई थी। और सम्राट् अकबर का भाग्य-भानु अपने प्रखर तेज के साथ उदय हुआ था और लगभग आधी शताब्दी तक तपता रहा। अनेकानेक शूर-सामन्त, राजा-महाराजा घुटने टेक चुके थे। यहाँ तक कि आमेर और जोधपुर के राजपूत राजा मुगल-सम्राट् को कन्यादान कर चुके थे। अब चित्तौड़ाधिपति के अतिरिक्त कोई नरेश ऐसा न था जिसने दिल्ली का आधिपत्य स्वीकार न किया हो। हिन्दू-मुस्लिम विरोध समाप्तप्राय हो गया था। जजिया बन्द कर दिया गया था, ब्राह्मण, गौ और हिन्दू धर्म-शास्त्रों एवं देवालयों का सम्मान बढ़ गया था, कलाकारों और विद्वानों का आदर होने लगा था तथा हिन्दू वीरों को सेना एवं दरबार में उच्च पद दिए जाने लगे थे। तात्पर्य यह है कि उदार मुगल सम्राट् ने विषमता एवं

वैमनस्य को बहुत कम कर दिया था। शाही दरबार में कवियों एवं संगीतज्ञों का बड़ा मान होता था। एवं विलासप्रियता बढ़ने लगी थी। इससे हिन्दू राजा भी प्रभावित हुए बिना न रहे। उनके दरबार भी कवि और संगीतज्ञों के अखाड़े बन गए और धीरे-धीरे प्रोत्साहित हो विलास की ओर बढ़ने लगे। ऐसा सुखद समय भला भक्ति को कैसे अनुप्रणाति रख सकता था। भगवान् तो पीड़ित हृदय का आश्वासन है, एक सन्तोष की वस्तु है। वह भला विलासियों का आराध्य कब बना है, विलासियों के लिए तो वह एक खिलवाड़ की वस्तु है। वास्तव मे इस समय यही हुआ, भक्तों के परमाराध्य राम और कृष्ण अब अपने देवासन से च्युत हो भड़कीले पादपीठ पर आ विराजे और उनकी भक्तवत्सलता रमणी-लावण्य-प्रियता में बदल गई। राजाश्रित कवि केशव कोई अपवाद न थे, उनका मन-मयूर भी इस सरस शृंगार-घटा की मनमोहिनी श्यामल छटा को देख नाचे बिना न रहा। कृष्ण तो पूर्व भक्तों के हाथों में ही कुछ शृंगारी हो गए थे, अतः केशव को उन्हे नायक का रूप देने में तनिक भी बाधा न हुई। परन्तु राम अभी तक कृष्ण की कोटि में न आए थे। अतः उनके विषय मे वे खुलकर न लिख सके वरन् शृंगार के अतिरिक्त कही-कहीं उनका दैवी महात्म्य भी दिखलाया। इस प्रकार केशव भी मूलतः शृंगारी कवि ही रहे।

केशव से पूर्व कृष्ण और राम का उत्कट चरित्र-चित्रण क्रमशः सूर और तुलसी ने किया था किन्तु वे भक्त प्रथम थे कवि पश्चात् जब कि केशव कवि प्रथम थे और भक्त पश्चात्। सूर ने केवल कृष्ण को आराध्य माना और उनकी बाल लीला एवं शृंगार का अनुपम अंकन किया। कृष्ण की बाल-लीला का जैसा साँगोपांग एवं सूक्ष्म चित्रण सूर ने किया है, विश्वसाहित्य मे वह दुर्लभ है। यही बात उनके भ्रमरगीत में है, जिसमें लघुतम सरस भाव-सौरभ एक विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त हो गया है। एक ही विषय को नीरसता, उपेक्षा एवं अरुचिकर पिष्टपेषणता से दूर रख कर भक्त कवि ने उसे ऐसी प्रखरता से वर्णित किया है कि आलोचकों ने उन्हें सूर्य का उपमान दिया है। तुलसी समन्वयवादी कवि थे। अतः उन्होंने अपने आराध्य राम का चरित्र-चित्रण करते हुए कृष्ण, शिव एवं अन्य देवों का भी गुणगान किया। उन्हें भी उन्होंने बड़ा महत्व दिया है। अपनी अमर कीर्ति के कारण रामचरित मानस में भी वे शिव का माहात्म्य कम नहीं बताते। इसके अतिरिक्त सभी विषयों की वर्णन-लालसा, ज्ञान-भक्ति-कर्म के समन्वय की अभिलाषा तथा अगाध पाण्डित्य ने उन्हें अपने आराध्य-विषय एवं अन्य किसी भी विषय को प्रखरता से लिखने नहीं दिया है तथा एक

व्यापक संयतता ने उनके साहित्य में एक शान्त चंद्रिका-सी छिटका दी है। अतः सूर के समक्ष विद्वान् उन्हें शशि का उपमान देते हैं।

केशव भक्त तो थे ही नहीं। अतः उन्होंने जो कुछ लिखा केवल काव्य की दृष्टि से। इस दृष्टि को उनकी पाण्डित्य-प्रदर्शन-लालसा ने और भी बढ़ा-भड़का दिया। इसके अतिरिक्त उनपर रीति-परम्परा का भी प्रभाव था, जिसने उनको कविप्रिया और रसिकप्रिया नामक रीति ग्रन्थों के अतिरिक्त अपनी रामचन्द्रिका जैसी अमूल्य कृति में भी, विशेषतः छन्दों के विषय में और गौणतः अलंकारों के विषय में रीति-परम्परा का अनुसर्त्ता बना दिया। अतः उनका काव्य सहज काव्य नहीं। यही कारण है कि केशव को उंडगन कहा गया है।

उपर्युक्त समीक्षा के आधार पर ही किसी आलोचक ने—'सूर सूर तुलसी शशि उडगन केशवदास' लिखा था और आज प्रायः विद्वान् इसे मानते हैं।

रीतिकालीन कवियों में केशव सर्वप्रथम आचार्य हैं। यद्यपि इनसे पूर्व सं० १५९८ मे कृपाराम नें 'हिततरंगिणी' नामक नायिका भेद की एक पुस्तक लिखी थी, उसी समय में मोहनलाल मिश्र ने 'शृंगार-सागर' नामक एक ग्रंथ शृंगाररस के सम्बन्ध में लिखा और अकबर के दरबारी कवि करनेस ने 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' और 'भूपभूषण' नाम के तीन ग्रन्थ अलंकारों पर लिखे परन्तु अभी तक संस्कृत साहित्य के आधार पर काव्यांगों का पूरा निरूपण किसी ने नहीं किया था। केशव ही प्रथम व्यक्ति थे, जिनने यह कार्य किया। पहले कहा जा चुका है कि वे चमत्कारवादी कवि थे। अतः उन्होंने अलंकारों को विशेष महत्व दिया। उनका तो मत था कि अलंकारों के बिना कविता-कामिनी सुशोभित ही नहीं होती—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता, मित्त॥

रीतिकाल में हमे दो प्रवृत्तियाँ अभिन्न रूप में मिलती हैं—रीतिनिरूपण अथवा आचार्यत्व और शृंगारिकता। रीतिनिरूपण मे प्रायः तीन प्रकार की शैलियाँ प्रयुक्त हुई हैं—प्रथम काव्य-प्रकाश की निरूपण शैली, जिसके आधार पर सभी काव्यांगों पर प्रकाश डाला गया है, द्वितीय शृंगारतिलक एवं रस-मंजरी आदि की शृंगार सम्बन्धी शैली और तृतीय चन्द्रालोक की संक्षिप्त अलंकार निरूपण शैली।

केशव ने अपना 'रसिकप्रिया' ग्रन्थ द्वितीय शैली पर लिखा। इस ग्रंथ में रसों का बड़ा सुन्दर विवेचन है। शृंगार रस को सभी रसों में व्याप्त

मानते हुए उन्होंने यथार्थ मे उसे रसराज का पद दिया है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का बड़ा सम्यक् निरूपण है। नायिका भेद का निरूपण तो बड़ा ही सुन्दर है।

इन्होंने 'कविप्रिया' में दण्डी के काव्यादर्श से बड़ा सहारा लिया है। इस विषय में ये अमर और केशवमिश्र के भी ऋणी है। दण्डी का अनुसरण करते हुए भी इन्होंने मौलिकता का प्रदर्शन किया है किन्तु उसमे ये पूर्ण सफल नहीं हुए। यथा—इनका मरणाक्षेप दण्डी के मूर्छाक्षेप का और प्रेमालंकार दण्डी के प्रेयस का ही नामान्तर है। उत्तर अलंकार के चारों भेद तो पहेलियाँ बन गए हैं।

केशव ने उपर्युक्त रीति-निरूपण के अन्तर्गत तीन शैलियों में से केवल द्वितीय को ही व्यवहृत किया। वास्तव मे उन्होंने भामह, उद्भट और दण्डी की शैली का अनुसरण किया न कि मम्मट आदि की शैली का। पूर्वाचार्यो के समय में स्पष्ट भेद नहीं हुआ था। अतः रस, रीति, अलंकार आदि सब के लिए अलंकार शब्द का ही प्रयोग होता था। केशव ने भी इसे स्वीकृत किया। इसके लगभग ५० वर्ष पश्चात् रीति-परम्परा चली, जो इनके द्वारा प्रदर्शित प्राचीन आचार्यों के मार्ग पर नहीं वरन् मम्मट एवं विश्वनाथ आदि के मार्ग पर अग्रसर हुई। अधिकांश हिन्दी के रीति-ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' और 'कुवलया-नन्द' के आधार पर बने।

इन सब बातों के होते हुए भी हम केशव को रीतिग्रंथकारों में प्रथम आचार्य मानते हैं, क्योंकि वे ही वास्तव में सर्वप्रथम थे, जिन्होंने काव्यांगों का सांगोपांग निरूपण किया। उनकी रचनाओं के आधार प्राचीन आचार्य थे न कि सर्वमान्य सिद्धांतों के प्रतिपादक मम्मट आदि—यह तर्क उनके आचार्यत्व में कोई बाधा उपस्थित नहीं करता।

बिहारी

शृंगार-कवि-शिरोमणि बिहारी का वंश-परिचय देना भी बड़ा दुष्कर है। इनके माता-पिता एवं जाति आदि के विषय में बड़ा विवाद रहा है। अनेक लेखकों ने 'रामचन्द्रिका' के रचयिता कवि केशव को ही निम्न दोहे के आधार पर इनका पिता माना है—

प्रगट भए द्विजराज कुल सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब केसव केसवराय॥

उनका कथन है कि इस दोहे में उल्लिखित 'केशव राय' केशवदास ही हैं। केशव ने विज्ञान-गीता में अपना वंश-परिचत देते हुए अपना नाम केशवराय लिखा भी है। वे अपने को काशीनाथ का पुत्र बतलाते हुए लिखते हैं—

तिनके केशवराय सुत भाषा कवि मतिमंद।
करी ज्ञान गीता प्रगट श्री परमानंद कंद॥

यदि कालानुसार भी देखा जाए तो केशवदास और बिहारीलाल में पिता-पुत्र का सम्बन्ध माना जा सकता है। यद्यपि बिहारी ने अपने जन्म-काल के विषय में कुछ नहीं लिखा है परन्तु उन्होंने एक दोहे में एक ऐतिहासिक घटना का उल्लेख किया है—

यों दल काढ़े बलख तें तैं जयसाह भुआल।
बदन अघासुर के परे ज्यों हरि गाय गुआल॥

यह घटना महाराज जयसिंह की बलख की लड़ाई से सम्बन्ध रखती है, जो सन् १६४७ ई० में हुई। इससे सिद्ध होता है कि बिहारी सन् १६४७ में जयसिंह के आश्रय में थे। अतः इससे पूर्व वे राजदरबार में पहुँचे होंगे। यहाँ से पूर्व वे शाहजहाँ के दरबार में थे। शाहजहाँ सन् १६२८ (सं० १६८५) में सिंहासनारूढ़ हुआ था। वह उससे १० वर्ष पूर्व अपने पिता के समय में वृन्दावन गया था और वहाँ अपनी ससुराल में रहते हुए बिहारी से उसका परिचय हुआ। शाहजहाँ उनकी अलौकिक प्रतिभा से अत्यधिक प्रभावित हुआ और उन्हें आगरे ले आया। यदि उस समय बिहारी को २५-३० वर्ष का माना जाए तो उनका जन्म काल सन् १६०० (सं० १६५७) के आसपास ठहरता है। केशव का जन्म सन् १५५५ में हुआ था। अतः केशवदास बिहारी

से ४५ वर्ष बड़े थे। इस प्रकार इनमे पिता-पुत्र-सम्बन्ध संभव है किन्तु यह मान्य नहीं क्योकि न इन दोनों ने कही पर परस्पर पिता-पुत्र-सम्बन्ध स्पष्ट किया है और न किसी समसामयिक एवं अन्य परवर्ती कवि ने इस विषय मे कुछ लिखा है। इनकी भाषा और शैली भी परस्पर नही मिलती। बिहारी-सतसई के सर्वश्रेष्ठ टीकाकार महाकवि जगन्नाथदास रत्नाकर ने केशवदास को बिहारी का गुरु लिखा है। उनका कथन है कि केशवराय नाम के कोई कवि ग्वालियर मे रहते थे। वे बिहारी की बाल्यावस्था मे ही ग्वालियर से ओरछे चले आए थे। केशवदास ने इनका बड़ा सम्मान किया। अतः इनमें परस्पर घनिष्ठता हो गई और इसके परिणामस्वरूप केशवराय ने केशवदास के पास बिहारी के पढ़ने का प्रबन्ध कर दिया। अतः उपर्युक्त दोहे में केशवराय केशवदास के लिए आया है जो बिहारी के पिता केशवराय से भिन्न थे। दोहे में उक्ति-शैली से भी ध्वनित हो रहा है कि बिहारी अपने पिता से भिन्न किसी अन्य केशवराय से क्लेश हरने के लिए प्रार्थना कर रहे है और वे प्रसिद्ध कवि केशव ही थे।

'शिवसिंह सरोज' मे बिहारी को चौबे लिखा है। डा० ग्रियर्सन भी इसी बात को मानते है। इनके अतिरिक्त बिहारी सतसई के टीकाकार हरिचरणदास उन्हें ब्राह्मण श्रेष्ठ, राधाकृष्णदास सनाढ्य ब्राह्मण तथा जगन्नाथदास रत्नाकर धौम्य गोत्री माथुर चौबे मानते हैं। रामचन्द्र शुक्ल भी इस विषय में जगन्नाथदास से सहमत हैं।

इनके विषय में एक दोहा प्रसिद्ध है—

जनम ग्वालियर जानिग खंड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुभग मथुरा बसि ससुराल॥

इससे प्रतीत होता है कि उनका जन्म ग्वालियर मे हुआ था। ग्वालियर से तात्पर्य ग्वालियर का प्रदेश है। ग्वालियर के पास बसुवा गोविन्दपुर उनका जन्मस्थान माना भी जाता है। उनकी बाल्यावस्था बुन्देलखण्ड में समाप्त हुई और तरुणावस्था के प्रारम्भ मे ही वे मथुरा में जा बसे, जहाँ उनकी ससुराल थी। बात यह थी कि बिहारी के पिता पहले ओरछे में रहते थे किन्तु वहाँ के राजा इन्द्रजीतसिंह के पश्चात् राज्य की परिस्थिति अनुकूल न होने के कारण वे वृन्दावन चले आए। यहाँ उन्होंने बिहारीलाल का विवाह भी कर दिया। पुनः बिहारी अपनी ससुराल में ही रहने लगे। सं० १६७५ में शाहजहाँ नरहरिदास के दर्शनार्थ वृन्दावन आया, यहां बिहारी का परिचय अनेक राजपूत-राजाओं से भी हुआ और उन्होंने इनकी वार्षिक वृत्ति बांध दी। तदनन्तर जहांगीर के रुष्ट हो जाने पर शाहजहां की आर्थिक

स्थिति बिगड़ गई। और बिहारी को उपर्युक्त राजाओं के यहां वृत्ति लेने के लिए जाना पड़ा। यह क्रम शाहजहाँ के गद्दी पर बैठ जाने पर भी चलता रहा। कहते हैं कि जब सं० १६९१-९२ में एक बार जब ये आमेर (जयपुर) वृत्ति लेने गए तो इन्होंने सुना कि महाराज जयसिंह अपनी नव विवाहिता अति सुन्दरी रानी के साथ भोगविलास में मग्न रहते हैं और बाहर कम आते हैं, तब इन्होंने निम्न दोहा महाराज के पास अन्तःपुर मे भेजा—

नहिं परागु नहि मधुर मधु, नहिं बिकासु इहि काल।
अली कली ही सौं बंध्यौ, आगैं कौन हवाल॥

इस दोहे को पढ़ कर महाराज बाहर आए और बिहारी पर प्रसन्न होकर उन्हें अपने दरबार में स्थान दिया तथा और भी ऐसे ही दोहे बनाने के लिए उनसे कहा। बिहारी दोहे बना कर सुनाते और महाराज उन्हें प्रति दोहा एक अशर्फी देते। इस प्रकार सात सौ दोहे बन गए, जो संग्रहीत होकर 'बिहारी-सतसई' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

बिहारी-सतसई की रचना-समाप्ति १६४८ ई० (सं० १७०५) में हुई होगी क्योंकि सन् १६४७ (सं० १७०४) में बलख से हिन्दू और मुस्लिम वीरों के बचा लानें पर सतसई के अन्त में बिहारी ने उन वीरों की स्त्रियों के मुख से महाराज जयसिंह को आशीर्वाद दिलवाया है और आशीर्वचन ग्रन्थ-समाप्ति का परिचायक है—

घर घर तुरकिनि हिंदुनी देतिं असीस सराहिं।
पतिनु राखि चादर चुरी तैं राखी जयसाहि॥

इस दोहे में स्पष्ट लिखा है कि वे आशीर्वाद देती हैं। इस क्रिया से ध्वनित होता है कि बलख की घटना कुछ समय पूर्व ही हुई होगी। अतः हमारा उपरिलिखित निश्चय ठीक ही है। महाराज जयसिंह का देहान्त सन् १६६७ (सं० १७२४) में हुआ किन्तु बिहारी ने दोहों का निर्माण सन् १६४८ (सं० १७०५) के पश्चात् किया या नहीं कुछ ज्ञात नहीं। अतः निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि बिहारी का देहान्त कब हुआ। यदि बिहारी जयसिंह के साथ तक या पीछे तक जीवित रहे होते तो सं० १७०५ के पश्चात् अवश्य लिखते परन्तु उनकी ऐसी कोई रचना नहीं मिलती। अतः यह तो निश्चित है कि वे जयसिंह के पश्चात् तो जीवित नहीं थे। संभवतः वे जयसिंह की मृत्यु से बहुत पहले निधन को प्राप्त हुए।

बिहारी सतसई—बिहारी ने अपनें जीवन में लगभग ७०० दोहे लिखे, जो सतसई में संग्रहीत हैं। यह एक मुक्तक काव्य है। मुक्तक काव्य

अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। यदि यह कहा जाए कि मनुष्य निसर्गतः मुक्तक कविता ही करता है तो अनुचित न होगा। क्योंकि काव्य में प्रबन्धात्मकता तो प्रतिभाशील कवि की विशिष्ट कथानक को लेकर तारतम्य से एक कथा लिखने की रुचि का परिणाम है। भारतीय साहित्य में सर्व-प्राचीन मुक्तक ग्रन्थ 'सप्तशतिका' है, जिसे हाल कवि ने पञ्चम शताब्दी में निर्मित किया था। इसमें सात सौ श्लोक हैं। उसके पश्चात् अनेक मुक्तक रचनाएँ बनीं। यदि प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश के मुक्तक काव्यों का रूप-विभाजन किया जाए तो हम उन्हें तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—पंचाशिका (पचास मुक्तकों का संग्रह), शतक (सौ मुक्तकों का संग्रह) और सप्तशती (सात सौ मुक्तकों का संग्रह)।

पञ्चाशिका नाम	कवि	भाषा	समय
ऋषभ पञ्चाशिका	धनपाल	प्राकृत	
वक्रोक्ति पञ्चाशिका	रत्नाकर	संस्कृत	९वीं शताब्दी
सांब पञ्चाशिका	सांब	,,	११वीं शताब्दी
चौर पञ्चाशिका	चौर	,,	,,

शतक—

सूर्यशतक	मयूर	संस्कृत	७वीं शताब्दी
चंडीशतक	बाणभट्ट	,,	,,
शृंगार शतक	भर्तृहरि	,,	,,
नीति शतक	,,	,,	,,
वैराग्य शतक	,,	,,	,,
देवीशतक	आनन्दवर्धन	,,	९वीं शताब्दी
अमरुक शतक	अमरुक	,,	१२वीं शताब्दी
सुन्दरीशतक	अप्पयदीक्षित	,,	१६वीं शताब्दी
वैराग्यशतक	,,	,,	,,
वरदराज शतक	,,	,,	,,
सभारंजन शतक	नीलकण्ठ	,,	१७वीं शताब्दी
अन्योपदेश शतक	,,	,,	,,
कलि विडम्बना शतक	,,	,,	,,
ईश्वर शतक	अवतार	,,	,,
रोमावली शतक	विश्वेश्वर	,,	१८वीं शताब्दी

सप्तशती—

सप्तशतिका	हाल	प्राकृत	५वीं शताब्दी
गाथा सप्तशती	सातवाहन	„	
आर्या सप्तशती	गोवर्धन	संस्कृत	१२वीं शताब्दी
गाथा सप्तशती	आनन्दवर्धनाचार्य	अपभ्रंश	

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे यहां मुक्तक-परम्परा बहुत प्राचीन है। ये तो प्रमुख मुक्तक-संग्रह हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक हैं। बिहारी सतसई का पर्यालोचन करने से प्रतीत होता है कि उस पर अनेक संस्कृत एवं प्राकृत के मुक्तक ग्रन्थों का प्रभाव था, जिनमें से सातवाहनकृत गाथासप्तशती, गोवर्धनरचित आर्या सप्तशती और अमरुक निर्मित अमरुक शतक प्रमुख हैं।

बिहारी से पूर्व हिन्दी में भी तुलसी और रहीम सतसई लिख चुके थे। यद्यपि हिन्दी से पूर्व उपरिलिखित ग्रन्थों में शृंगार, ज्ञान, भक्ति, नीति एवं रीति पर मुक्तक रचनाएँ लिखी गईं तथा हिन्दी में तुलसी और रहीम ने प्रधानतः नीति और वैराग्य सम्बन्धी दोहों को स्थान दिया परन्तु हिन्दी में बिहारी ही सर्वप्रथम हुए जिन्होंने शृंगार विषयक दोहे इतनी मात्रा में व्यापकता के साथ लिखे। यद्यपि रहीम ने नायिका भेद बरवै छंद में लिखा था परन्तु दोहा-सरणी में शृंगार-सतसई बिहारी ने ही लिखी।

सम्भव है कि इनसे पूर्व भी सतसइयाँ निर्मित हुई हैं। जिनका अनुकरण या अनुसरण इन कवियों ने किया हो परन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं। बिहारी के पश्चात् तो अनेक सतसइयां निर्मित हुईं, जिनमें 'विक्रम सतसई', 'मतिराम सतसई' और 'वृन्द सतसई' विशेष उल्लेखनीय हैं। आधुनिक काल में वियोगी हरि ने 'वीर सतसई' और दुलारेलाल भार्गव ने 'दुलारे दोहावली' लिखी।

श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने लिखा है कि जब उन्होंने श्री बिहारीलाल की सतसई का अध्ययन किया तो उस समय उन्हें इस ग्रंथ पर प्रमुख पांच टीकाएँ मिलीं—(१) नवलकिशोर प्रेस की छपी हुई कृष्ण कवि की टीका, (२) भारत जीवन प्रेस की छपी हुई हरिप्रकाश टीका, (३) लल्लूलाल जी कृत लालचन्द्रिका टीका, (४) विद्योदय प्रेस की छपी हुई पं० परमानंद जी कृत शृंगार सप्तशती नाम की संस्कृत टीका, तथा (५) सरदार कवि की हस्तलिखित टीका।

उपरोक्त टीकाओं की आधारभूत पांचों पुस्तकों में दोहों का क्रम प्रायः समान ही है। केवल कुछ दोहों के क्रम में अन्तर है। लल्लूलाल कृत

एवं सरदार कवि की टीका वाली प्रति मे ७१३ दोहे है तथा क्रम एक-सा ही है। कृष्ण कवि कृत टीका से अलंकृत पुस्तक मे ४६३ दोहे हैं परन्तु उनका क्रम अधिकांशतः उपर्युक्त दोनों प्रतियों से मिलता है। हरिप्रकाश टीका वाली प्रति मे ११७, ३०१, ६०४ और ७१३ अंक वाले दोहे नहीं है परन्तु ११७ और ३०१ अंक वाले दोहे अन्य प्रतियो मे विद्यमान है और ६०४वाँ दोहा तीसरी, चौथी एवं पाँचवीं पुस्तकों मे उपलब्ध है। ७१३वाँ दोहा इन प्रतियो मे तो नही है परन्तु कृष्णलाल की गद्य टीकावाली प्रति में यह मिलता है। अतः यह भी बिहारी-निर्मित ही है। दूसरे अंक की टीका वाली पुस्तक मे ७३ दोहे अधिक हैं, जो शैली से बिहारीकृत प्रतीत नहीं होते और न वे किसी अन्य प्रति में मिलते हैं। पं० परमानंद की संस्कृत टीका वाली प्रति मे ४६४, ४६८, ५६३ से ५६६ और ७१३ अंक वाले दोहे नही है। परन्तु प्रथम दो दोहे अन्य सभी प्रतियों में मिलते है और ७१३वाँ दोहा कृष्णलाल की टीका वाली प्रति में विद्यमान है। शेष ७ दोहे सम्भवतः टीकाकार की असावधानता से रह गए हैं क्योंकि ये सभी अन्य प्राचीन प्रतियों मे मिलते हैं।

इस प्रकार सर्वमान्य जगन्नाथदास कृत रत्नाकरी टीका से समलंकृत बिहारी सतसई मे ७१३ दोहे हैं, जिनका आधार उपरिलिखित पाँच या छः प्रतियाँ है।

पहले कहा जा चुका है कि यह एक मुक्तक काव्य है, जिसमें शृंगार सम्बन्धी दोहे अधिक हैं। १०-१५ दोहों के पश्चात् एक भक्ति या नीति का दोहा भी रक्खा हुआ है। इसमे मुक्तक के सभी गुण विद्यमान है। मुक्तक रचना में प्रबन्धात्मकता न होने के कारण कथा की भाँति रसप्रवाह दीर्घ नहीं होता। यही बात इसमें है परन्तु बिहारी की लेखनी से अंकित हुआ एक-एक दोहा इतना भावपूर्ण एवं रसयुक्त है कि इस ग्रन्थ को भावसौन्दर्य की मञ्जूषा एवं सुधा-रसवापी कहा जाए तो उचित ही होगा। शृंगारिक दोहों में शृंगार रसराज होकर ही विराजित है। वास्तव में बिहारी ने गागर में सागर भर दिया है। अतएव किसी ने कहा है कि—

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगै बेधैं सकल सरीर॥

यदि हम विषयानुसार दोहों का विभाजन करें तो शृंगार और शान्त रस विषयक दोहे ही अधिक मिलेंगे। उनमें भी शृंगार की प्रधानता है। डा० ग्रियर्सन ने इसमें केवल प्रेम और भक्ति दो विषय ही माने हैं। शृंगार में संयोग और वियोग का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। वियोग में भी

परकीया विषयक श्रृंगार का चित्रण बड़ा मधुर है। कुट्टमित-मोट्टायितों की योजना तो शुष्क हृदय को भी लहलहा देती है। कहीं पर परिजन के मध्य विद्यमान प्रिय को निहार नवोढ़ा का कनखियों से मनुहार, कहीं मार्गगत प्रिय को लख सखियों को वञ्चित करती हुई ललना का ललित संकेत, कहीं नानाविध रति-संगर की कठिन जूझ में मनोरम दाव-पेचों की विचित्रता, कहीं खण्डिता नायिका की व्यंग्यपूर्ण सूक्तियाँ और कहीं विरहदग्धा के ताप-ज्वर में किए गए निष्फल उपचार पाठक को गुदगुदाए बिना नहीं रहते। उसका मन-मानस अनेक सुमधुर भाव-तरंगों से कल्लोलित हो उठता है।

शान्त रस में भक्ति एवं तत्वज्ञान के दोहे हैं। नीति के दोहे भी कुछ मात्रा में है तथा कुछ दोहे प्रकृति-चित्रण के भी है। जिन दोहों मे ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख या संकेत है वे ऐतिहासिक कहे जा सकते हैं।

श्रृंगार के दोहों में कृष्ण और राधा प्रायः नायक और नायिका के रूप में आए हैं। इसीलिए उनकी मुरली एवं रास आदि का संक्षेपतः स्थान स्थान पर वर्णन है।

बिहारी ने नायिका को विवध रूपों में वर्णित किया है, जो मुख्यतया ये हैं—स्वकीया, परकीया, मुग्धा, अवतीर्णयौवना मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, प्रौढ़ा-खण्डिता, अधीरा, विश्रब्ध नवोढ़ा, पूर्वानुरागिनी, खण्डिता, प्रौढ़ा धीरा खण्डिता, उत्तमा खण्डिता, मानिनी, स्वयंदूतिका, प्रोषितपतिका, अन्यसम्भोग दुःखिता, गँवारी, प्रेमगर्विता, अनूढ़ा परकीया मुदिता, अनुशयाना, प्रौढ़ा प्रवत्स्यत्प्रेयसी, क्रिया-विदग्धा, आगमिष्यत्पतिका, अंकुरितयौवना, प्रवत्स्यत्-प्रेयसी, लक्षिता, कलहान्तरिता, कुलटा और गणिका।

इन नायिकाओं के चित्रण में जो दोहे बिहारी ने लिखे हैं वे इतने मधुर, कलापूर्ण, वैदग्ध्य विचित्रित और रंगीन है कि पढ़ते ही चित्रित वस्तु का चित्र आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। देखिए एक प्रौढ़ा धीरा खण्डिता नायिका की अपने प्रिय के प्रति उक्ति में कितना हास-परिहास, विनोद और व्यंग्य भरा है—

> पलनु पीक, अंजनु अधर, धरे महावरु भाल।
> आजु मिले, सुभली करी, भले बने हौ लाल॥

कोई परकीयानुरक्त नायक कहीं रात्रि को सफल बना कर प्रातः रति-समरांगण से क्षत-विक्षत हुआ (विविध चिह्नों से युक्त) लौटा है। नायिका प्रौढ़ा खण्डिता हैं। परन्तु धीरा है अतः क्षोभ को शान्त कर धीरता से उपहास करती हुई व्यंग्यपूर्ण बड़ी मीठी मार मारती है। कहती है, हे

लाल ! पलकों पर पीक, अधर पर अञ्जन, भाल पर महावर लगाए हुए आज आप मिले, सो बहुत अच्छा किया। आप इस रूप में बड़े भले लग रहे हो—सचमुच अच्छे लग रहे हो।

इस दोहे के पढ़ते ही नायक के साथ उसकी रतिक्रिया का चित्र भी खिच जाता है।

इसी प्रकार एक गँवारी का कैसा सुन्दर नैसर्गिक चित्र निम्न दोहे में अंकित है—

> गदराने तन गोरटी, ऐपन-आड़ लिलार।
> हूठ्यौ दै, इठलाइ, दृग करै गँवारि सुवार॥

चित्र के अतिरिक्त इस दोहे में शब्द-सामञ्जस्य तो देखिए। इसमें गँवारी का चित्रण है, अतः उसके शरीर को माँसल न कह कर गदराने कहा गया है। ब्रज में गदराना आम के लिए आता है, जिससे अभिप्राय होता है कि गूदेदार है, कच्चा है और पिलपिला नही है। गँवारी का शरीर भी ऐसा ही है। इसी प्रकार गोरी न कह कर गोरटी कहा गया है। इस शब्द में पौरुष्य मे भी पेशलता है—इसी को सोने मे सुगन्ध कहते है। आगे ललाट के स्थान पर लिलार का प्रयोग किया है। नायिका गँवारी है न, उसका ललाट भी कठोर होगा अतः लिलार का प्रयोग कितना सुन्दर जँचता है। कमर पर हाथ रक्खे सिर मटकाती हुई इठला कर नैन नचाती पर बार-बार कह रही है (और कोई मनचला उसे देख ठगा-सा मंत्र मुग्ध की भाँति खड़ा है)। कैसा सुन्दर चित्र है और कैसी विचित्र शब्द-योजना है !

इसी प्रकार सैकड़ों ही मनोरम चित्रों की यह सतसई एक शाला है। वस्तु-व्यञ्जना, उक्ति-विचित्रता और भाव-व्यञ्जना तो हृदय को बल्लियों उछालती हैं। एक शुक्लाभिसारिका नायिका अपनें गोरे शरीर पर शुभ्र वस्त्रं धारण किए चन्द्रज्योत्स्ना में अपनी अन्तरंग सखी के साथ प्रिय-मिलन को जा रही है। नायिका इतनी गोरी और उसके वस्त्र इतने शुक्ल हैं कि सखी को दूध के समान बिखरी चाँदनी में वह दीखती नहीं परन्तु उसके केश, वसन एवं अंगों मे लिप्त इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ का सुगन्धि-सूत्र उसे अनुसरण करा रहा है—

> जुवति जोन्ह में मिलि गई, नैंक न होति लखाइ।
> सौंधे कै डोरैं लगी, अली चली सँग जाइ॥

इसी प्रकार विरह-दग्ध नायिका की ताप-शान्ति के लिए उसके शरीर

पर गुलाबजल की सारी शीशी उँडेल दी परन्तु ताप-जल से गुलाबजल छनाक से उड़ गया, शरीर को छू भी न पाया।

औंधाई सीसी, सु लखि बिरह-बरनि बिललात।
बिच हीं सूखि गुलाबु गौ, छींटौ छुई न गात॥

इस बात का वैचित्र्य निम्न दोहे में और भी बढ़ जाता है, जिसमें सखियाँ स्नेहवश विरहाग्नि से प्रज्वलित गात वाली सहेली के पास जाती तो हैं परन्तु शीतकाल की परम शीतल रात्रियों में भी जलने की आशंका से अपने शरीर पर आईं वस्त्र लपेट कर और साहस कर करके आगे बढ़ती हैं—

आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेह-बस सखी सबै ढिंग जाति॥

इसमें विरह सन्तप्त नायिका के दग्ध शरीर की तापज्वाला की भीषणता कैसे विचित्र और मनोरम ढंग से व्यंजित की गई है।

इस सतसई में नखशिख का वर्णन तो है ही परन्तु नायिका के सौन्दर्य की व्यंजना अधिक की गई है। वस्तुव्यंजना में नायिका की वय:सन्धि, आंखों की चंचलता, शरीर की गुराई, सौकुमार्य, यौवन का भरपूर उभार और वियोगजन्य कृशता आदि बातों का बड़ा विलक्षण और चित्ताकर्षक वर्णन है। नायिका के हाव-भाव, हास-विलास, विभ्रम, प्रगल्भता, किलकिंचित्, विच्छित्ति, विव्वोक, मद, मौग्ध्य, विरहवैकल्य एवं विक्षेप आदि का चित्रण ऐसा नैसर्गिक हुआ है कि विविध अनुभावों का उद्भाव हुए बिना नहीं रहता। वास्तव में बिहारी के अनुभाव-विधान में ही रसव्यंजना की पराकाष्ठा हमें दीख पड़ती है। उक्तिवैचित्र्य के साथ-साथ कल्पना का सौष्ठव और माधुर्य अनुपम है। इतना अवश्य है कि कहीं-कहीं रसव्यंजना और वस्तु व्यंजना के निमित्त कवि ने इतनी विचित्रता दिखाई हैं कि कृत्रिमता आ गई है और औचित्य नहीं रहा है। यत्र-तत्र व्यंग्यार्थ भी क्लिष्ट हो गया है। परन्तु रस-सुधासागर में निमग्न पाठक को इसका ध्यान नहीं होता।

अनेक आलोचकों और टीकाकारों ने बिहारी सतसई के अधिकांश दोहों को नखशिख और नायिका भेद के अन्दर लिया है और इसीलिए किसी किसी ने इसे लक्षण ग्रन्थ लिखा है परन्तु यह बात ठीक नहीं। बिहारी ने इसे शृंगार की दृष्टि से लिखा अवश्य और इसके दोहे नखशिख और नायिका के उदाहरण भी हो सकते हैं परन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं है और न नखशिख वर्णन एवं नायिका भेद में कोई क्रम ही है। अतः स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ लक्षण-दृष्टि से नहीं लिखा गया। इसके अतिरिक्त शृंगार से भिन्न भक्ति और नीति के दोहे भी इसमें विद्यमान हैं।

बिहारी ने अनुरागिणी नायिका में उपर्युक्त भावों के अतिरिक्त अमर्ष, ईर्ष्या, मात्सर्य, घृणा, उपेक्षा और मान आदि भावों का चित्रण भी बड़े सुन्दर ढंग से किया है, जिससे मानवीय हृदय-सागर मे उठती हुई विविध भाव-तरंगों की नैसर्गिकता का हमें परिचय मिलता है। वास्तव मे बिहारी द्वारा चित्रित नायिका के अनुराग में एक दृढता है।

विरह का वर्णन मनुष्य की लेखनी का एक चिर विषय रहा है। संस्कृत-प्राकृत के सभी कवियों ने शृंगार के वर्णन में इसे प्रमुख स्थान दिया है। बिहारी ने इस पर लेखनी उठाई और ऐसा रंग भरा कि देखते ही बनता है। एक नायिका विरह से इतनी कृश हो गई है कि वह मृत्यु को आँखों पर चश्मा लगाने पर भी नही दीखती—

> करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाड़ति नीच।
> हीने हू चसमा चखन चाहै लहै न मीच॥

नायिका अत्यन्त कृश हो गई है परन्तु मृत्यु को प्राप्त नही होती, इसीलिए मृत्यु की आँखों पर चश्मा चढ़े रहने पर भी उसको दिखाई न देने की संभावना द्वारा कृशता की पराकाष्ठा की व्यंजना की गई है। इसमें देव की निम्न उक्ति की भाँति अस्वाभाविकता नही। देव लिखते हैं—

> देव जू आजु मिलाप की औधि, सु बीतत देखि विसेखि बिसूरी;
> हाथ उठायो उडायवे को, उड़ि काग-गरे परी चारिक चूरी।

आज प्रिय से मिलने का समय निश्चित हो गया था परन्तु प्रिय नहीं आए। नायिका को बड़ी मनोव्यथा हुई। उसी समय एक कौआ आकर बोलने लगा। नायिका ने क्षुब्ध हो उसे उड़ाने के लिए हाथ को झटकाया कि कृशता वश उसमें से कुछ चूड़ियाँ निकल गईं और कौए के गले मे जा पड़ी। इस स्वभावोक्ति मे भी अस्वाभाविकता दीख पड़ती है, विचित्रता में भी अनोखा-पन है। अतएव उक्ति कुछ असंगत-सी प्रतीत होती है।

बिहारी सतसई में संयोग और वियोग शृंगार के दोहों के अतिरिक्त जो भक्ति के दोहे हैं उनसे उनकी भक्ति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। वे कोई भक्त कवि नही थे वरन् बड़े सरस, सहृदय और भावुक कवि थे।

सतसई में दोहा छन्द को अपनाया गया है। एक छोटे से छन्द में सम्पूर्ण भाव को निहित कर देना कोई सरल काम नहीं परन्तु बिहारी इसमें सफल हुए हैं, यह उनकी नैसर्गिक कवि-प्रतिभा का परिचायक है।

बिहारी ने अलंकार-योजना के लिए रचना नही की। अधिकांशतः अलंकार स्वयं आगए हैं। जिस प्रकार केशव आदि ने चमत्कार को प्रधानता

दी वैसे बिहारी ने नहीं। परन्तु फिर भी उनकी रचना मे स्थान-स्थान पर अलंकारों का सुन्दर समावेश हुआ है। उन्होंने प्रायः उपमा, उत्प्रेक्षा और स्वभावोक्ति अलंकारों का प्रयोग किया है। अनुप्रास-बहुलता तो उनकी प्रतिभा और भाषाधिपत्य का सहज परिणाम है। श्लेष की योजना कुछ क्लिष्टता का कारण बन गई है परन्तु उसमें भी इष्टार्थ असम्बोध्य नहीं है। कहीं-कहीं पर वे शब्दों से खेलते से अवश्य प्रतीत होते हैं, यथा—

रस सिंगार-मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु नैन॥
वर जीते सर मैन के, ऐसे देखें मैं न।
हरिनी के नैनानु तैं, हरि नीके ए नैन॥

इस सतसई में ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है परन्त अनेक बुन्देलखण्डी, पूर्वी एवं अरबी-फारसी के शब्दों का भी व्यवहार हुआ है। ब्रज भाषा का सुन्दरतम रूप हमें इसमें दृष्टि गोचर होता है, जिसमे स्वाभाविकता है और एक प्रवहमान गति है। इसमें लखिवी, सवी, चाला, सद, देखवी, गीधे, खए, खिसी आदि अनेक बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार जिन्हीं, किन्हीं, लजियात, लीन, दीन आदि पूर्वी शब्द भी आए हैं। अरबी-फारसी के तो बहुत शब्द प्रयुक्त हुए हैं, यथा—इजाफा, मुलक, जोर, रकम, फ़ौज, तरफ, सिरताज, दाग, कागद, बेहाल, सबील, बलाप, गरीब, गरज, अदब, चश्मा, बदराह, कजाकी, नेजा, पापंदाज, नाजुक, गुमान, कबूल, आदि।

भिन्न भाषाओं के कतिपय शब्दों के प्रयोग से मूल भाषा में कोई अन्तर नहीं आया है, क्योंकि जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है वे खपते हैं। वे सब हीरों के हार मे मणियों से जड़ गए हैं। बिहारी की भाषा में जैसा माधुर्य है, वैसा सर्वत्र दुर्लभ है। सामासिक शब्दों में दुरूहता नहीं जो संस्कृत में पाई जाती है। अतः इनकी समास-पद्धति भी व्यास-पद्धति की भाँति सरल ही है प्रत्युत उसमें अनुप्रास आदि की छटा ने अधिक सौन्दर्य भर दिया है। उदाहरणतः नीचे दो-चार समस्त पद दिए जाते हैं—

जम-करि-मुँह-तरहरि	(यमरूपी हाथी के मुँह के नीचे)
छवि-गुर-डरी	(छवि रूपी गुड़ की डली)
द्वैज-सुधादीधिति-कला	(द्वितीया के चन्द्रमा की कला)
वेसरि-मोती-दुति-झलक	(वेसर के मोती की चमक की झलक)
समरस-समर-सकोच-बस-विवस	(बराबर के स्मर तथा संकोच के वश में पड़ कर विवश हुई)

इन समस्त पदों मे यद्यपि वाच्यार्थ सुलभ नही है परन्तु दुरूहता भी नही। श्लिष्ट पदों में कही-कही कठिनता अवश्य है, वह श्लेषों मे स्वाभाविक ही है। अनुप्रास की छटा, शब्दों का सहज खचन, चित्रांकन में उपयुक्त शब्द-विन्यास, रसानुकूल माधुर्य एवं प्रसाद गुणों की योजना तथा चुने हुए शब्दों से विचित्र उट्टंकना आदि इनकी भाषा के प्रमुख गुण हैं।

इन्होंने कविलनवी, ऐपन, हूठ्यौ, चुमकी, अटक-झटक-बट, अठान और पहुला आदि अनेक प्रादेशिक या सांकेति शब्दो का भी प्रयोग किया है।

बिहारी सतसई से कविवर बिहारी की प्रतिभा, काव्य सौष्ठव, अपार क्षमता और वाग्वैदग्ध्य का पता तो चलता ही है, साथ ही उनके पाण्डित्य पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उन्हे ज्योतिष, वैद्यक एवं इतिहास आदि का भी ज्ञान था। बिहारी ने सम्भोग की प्रेरणा के लिए वाक्-चातुरी से लिखा है—

सनि-कज्जल चख-झख-लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यौ न नृपति ह्वै भोगवैं लहि सुदेसु सबु देहु॥

संक्षेपतः इसमें बतलाया है कि यदि मीन राशि मे शनि ग्रह हो तो उस समय उत्पन्न होने वाला पुत्र नृपति बनता है। ज्योतिष के अनुसार यदि क्राँतिवृत्त की मीन राशि क्षितिज से सम्मिलित हो और उसी समय शनि ग्रह भी हो तो उस समय उत्पन्न बालक राजा बनता है। जातक संग्रह में लिखा भी है—

तुला कोदण्ड मीनस्थो लग्नस्थोऽपि शनैश्चरः।
करोति भूपतेर्जन्म वंशे च नृपतिर्भवेत्॥

यही बात बिहारी ने कही है।

निम्न दोहा उनके वैद्यक-ज्ञान का उद्घोषक है—

यह विनसतु नगु राखिकैं जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी विषमजुर ज्याइयै आइ सुदरसनु देहु॥

इसमें विरह विषमज्वर से जलती हुई नायिका को सु-दर्शन रूपी सुदर्शन (एक औषध) देकर जिलाने के लिए कहा गया है। विषमज्वर की शान्ति के लिए सुदर्शन का चूर्ण देना वैद्यक के अनुकूल है।

राजा जयसिंह की अनेक घटनाओं का उल्लेख उनके इतिहास-ज्ञान को सूचित करता है।

पहले कहा जा चुका है कि बिहारी-सतसई पर अनेक संस्कृत ग्रन्थों का प्रभाव है। विशेषतः गाथा सप्तशती, आर्यासप्तशती और अमरुक शतक

का। बिहारी ने अनेक श्लोकों का भावानुवाद एवं छायानुवाद-सा कर दिया है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

गाथा सप्तशती— फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओज्ज ता सुइरम्।
संमीलिअ दाहिणअं तुह अवि एहं पलोइस्सम्॥

बिहारी— बाम बाँह फरकति मिलै जौ हरि जीवन मूरि।
तौ तोहीसौं भेटिहौं राखि दाहिनी दूरि॥

आर्या सप्तशती— मधुमथन मौलिमाले सखि तुलयसि किं सुधाराधाम्।
यत्तव पदमदसीयं सुरभयितु सौरभोद्भेदः॥

बिहारी— मोरचन्द्रिका स्याम सिर चढ़ि कत करति गुमानु।
लखिबी पाइनु पर लुठति, सुनियतु राधा-मानु॥

अमरुक शतक— शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्रा व्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥

बिहारी— मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुँहु चूम्यौ ढिंग जाइ।
हँस्यौ, खिसानी, गल गह्यौ, रही गरैं लपटाइ॥

अधिक विस्तार न हो और प्रभाव सिद्ध हो जाए इसलिए केवल एक-एक ही उदाहरण दिया है। श्रीयुत पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी की सतसई' नामक ग्रन्थ में ऐसे अनेक उद्धरण देकर भाव-साम्य बतलाया है।

इन संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों के अतिरिक्त बिहारी ने कबीर, सूर, तुलसी और केशव आदि के काव्यों से भी भाव ग्रहण किए। कुछ उदारण देकर इस बात को पुष्ट करते हैं।

कबीर— मोमैं इतनी शक्ति कहँ, गाऊँ गला पसार।
बंदे को इतनी घनी, पड़ा रहे दरबार॥

बिहारी— हरि कीजति बिनती यहै तुमसौं बार हजार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यौ रह्यौ पर्‌यौ रहौं दरबार॥

सूरदास— नृत्यत स्याम स्यामा हेत;
मुकुट लटकनि, भृकुटि मटकनि नारि मन सुख देत।
कबहुं चलत सुगंध गति सौं, कबहुँ उघटत बैन;
लोल कुंडल गंड-मंडल, चपल नैननि-सैन।
स्याम की छवि देखि नागरि रहीं इकटक जोहि;
सूर प्रभु उर लाय लीन्हों प्रेम-गुन करि पोहि॥

बिहारी— भृकुटी-मटकनि, पतिपट-चटक, लटकती चाल।
चलचख-चितवनि चोरि चितु लियौ बिहारी लाल॥

तुलसी—	चंपक हरवा अँग मिलि अधिक सोहाय ; जानि परै सिय-हियरे जब कुँभिलाय।
बिहारी—	रंच न लखिपति पहिरियौ कंचन से तन बाल। कुँभिलानै जानी परै डर चंपक की माल॥
केशव—	राधा केशव कुँवर की बाधा हरहु प्रवीन।
बिहारी—	मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
केशव—	गति को भार महावरै, अंग अंग को भार। केसव नख-सिख सोभिजै, सोभाइ संगार॥
बिहारी—	भूषन-भारु संभारिहै क्यों इहिं तन सुकुमार। सूधे पाप न धर परैं सोभा ही कैं भार॥

इस प्रकार हम बिहारी को अनेक कवियों के भाव ग्रहण करता तो पाते हैं परन्तु साथ ही इनका अपनापन भी है। भाव लेना बुरा नहीं यदि वह नूतन सज्जा से सजाया गया है। अतः यह भाव-ग्राहकता सतसई के मूल्य को कम नहीं करती, हाँ, उनका प्रभाव अवश्य बतलाती है।

बिहारी का स्थान—बिहारी रीति कालीन कवि हैं। रीति काल की प्रमुख भावना शृंगारिक रही। रीति ग्रन्थों मे उदाहरण प्रायः शृंगार के ही प्रयुक्त हुए। कारण यह था कि शृंगार रसराज समझा गया और यह मान्यता कोई नई नहीं थी, संस्कृत साहित्य मे इसकी प्रतिस्थापना हो गई थी। शृंगार-चित्रण में हर-गौरी एवं राधा-कृष्ण सम्बन्धी शृंगार खूब चला। वास्तव में हर-गौरी की शृंगारिक भावना के आधार पर ही नूतन रूप मे राधाकृष्ण की रति का चित्रण हुआ। सर्वप्रथम 'भागवत' में गोपी-कृष्ण का प्रेम अंकित हुआ परन्तु उसमें एक रहस्यात्मकता की धूमिल रेखा बनी रही। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' मे राधाकृष्ण का जो विलास दिखाया गया, उसने जयदेव को अत्यधिक प्रभावित किया। उन्होंने यद्यपि भागवत को आधार बनाया परन्तु दूती, अभिसार आदि प्रसंगों में उपर्युक्त पुराण का सहारा लिया। इन ग्रन्थों में भी कुछ सीमा तक लौकिक प्रेम में रहस्य की व्यञ्जना की गई। विद्यापति ने रहस्यात्मकता का पचड़ा हटा दिया और कृष्ण एवं राधा सर्वप्रथम पूरे नायक और नायिका के रूप में दीख पड़े। विद्यापति की 'पदावली' पर जयदेव के 'गीतगोविन्द' का अत्यधिक प्रभाव था। पूर्वराग, मिलन, अभिसार और मान आदि प्रसंग उसी के आधार पर लिखे गए। इसके पश्चात् सूरदास आदि कृष्ण भक्त कवियों ने भी राधाकृष्ण का शृंगारिक चित्रण किया परन्तु इन्होंने रीति-पद्धति को नहीं अपनाया। उन पर रीति-प्रभाव था अवश्य क्यों कि उन्होंने खण्डिता नायिका एवं नखशिख और जलबिहार आदि का वर्णन किया है।

रीति काल से पूर्व उपर्युक्त ग्रन्थों में या कवियों द्वारा राधाकृष्ण के प्रणय का वर्णन किया गया था। गीतगोविन्द, विद्यापति की पदावली एवं सूर के कुछ पदों में हमें रीति-पद्धति स्पष्ट दीखती है। रीतिकालीन कवियों के समक्ष जहाँ संस्कृत के लक्षण एवं रीतिग्रन्थ थे, वहाँ ये राधाकृष्ण विषयक ग्रंथ भी थे। अतएव उन्होंने अपने लक्षण एवं रीति ग्रंथों में राधाकृष्ण का अनेकश: वर्णन उदाहरण के रूप में किया।

बिहारी ने भी कृष्ण और राधा को नायक और नायिका के रूप में ही ग्रहण किया। पहले कहा जा चुका है कि बिहारी से पूर्व सतसई निर्मित हो चुकी थी तथा संस्कृत और प्राकृत में तो सप्तशती एवं शतक अनेक बन चुके थे और उनमें से गाथा सप्तशती, आर्यासप्तशती एवं अमरुकशतक की भाव-छाया बहुत कुछ रूप में हमें बिहारी-सतसई में दीख पड़ी। तुलसी और रहीम ने सतसइयाँ लिखी पर उनका विषय भक्ति, नीति एवं विवेक रहा परन्तु बिहारी ने शृंगार का प्रधानत: चित्रण किया। वास्तव में सतसई परम्परा में बिहारी ही सर्वप्रथम थे, जिन्होंने शृंगारिक वर्णन किया। दोहा जैसे छोटे छंद में रसराज की नानाविध छटा का विकास जिस ज्वलन्त रूप से बिहारी ने किया, वह अनुपम है। उनमें एक गुदगुदी है, मनोरमता है, वशीकरणता है, प्राणसम्मोहन है और है आत्मसंवेदन भी। बिहारी का एक-एक दोहा सीधा हृदय पर आघात करता है, जिससे चोट खाया हुआ व्यक्ति कभी कराहता है, कभी आह भरता है, कभी मंत्रमुग्ध-सा रह जाता है, कभी उल्लसित होता है तो कभी पुलकित और कभी दिल थाम कर रह जाता है। विविध भावों का ऐसा उद्दीपन, संचारियों का ऐसा संचरण और अनुभावों का ऐसा संयोजन अन्यत्र कम ही मिलता है। बिहारी वास्तव में अपने क्षेत्र में वह प्रकाश स्तम्भ है जिसके प्रकाश में इस कोटि के अन्य कवियों की प्रभा मन्द पड़ गई है। यद्यपि कहीं-कहीं श्लेष के काठिन्य और शब्दों से क्रीडन ने रसाभिव्यक्ति में बाधा डाली है परन्तु यह मानना पड़ेगा कि सौंदर्य भी बढ़ गया है। काव्य सर्वथा भाव प्रधान ही नहीं होता, उसके साथ अलंकार भी चाहिए।

बिहारी सतसई की लोकप्रियता और महत्ता इसी बात से प्रदर्शित होती है कि इस पर लगभग ६० टीकाएँ लिखी गईं। श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने सन् १९२९ की नागरी प्रचारिणी पत्रिका के खण्ड ९ और १० में ऐसी ५२ टीकाओं का सविस्तार उल्लेख किया है। सर्वप्राचीन टीका सं० १७१९ की कृष्णलालकृत मिली है। अंतिम सर्वश्रेष्ठ टीका स्वयं रत्नाकर जी की 'रत्नाकरी' है। रत्नाकर जी ने लिखा है कि भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र

ने बिहारी के कुछ दोहों पर कुण्डलियाँ बनाई जो 'सतसई शृंगार प्रकरण' शीर्षक से 'भाषासार' ग्रंथ मे प्रकाशित हुई। पं० लोकनाथ द्विवेदी ने 'बिहारी-दर्शन' नामक ग्रंथ में लिखा है कि उन्हें मध्यप्रान्त में बिहारी सतसई की अनेक टीकाएँ मिली, जिनमे से चार पद्यात्मक थीं। उक्त ५२ टीकाओं में संस्कृत, फारसी, उर्दू एवं गुजराती की टीकाएँ भी सम्मिलित है।

बिहारी-सतसई पर टीका-कार्य से विदित होता है कि इस काव्य ने चोटी के उद्भट विद्वानों, कवियों और साहित्यकारों का ध्यान अपनी ओर खींचा और उनपर ऐसा जादू किया कि इसकी प्रशंमार्थ लेखनी उठाई, टीकाएँ कीं और इस प्रकार इसे अपने गले का हार बनाया। बिहारी के पश्चात् जितने सतसईकार हुए, उनपर बिहारी का प्रभाव स्पष्ट है। नीचे कुछ उदाहरण देकर स्पष्ट किया जाता है—

बिहारी— दृग मिहचत मृग-लोचनी, भर्यौ उलटि भुज बाथ।
जानि गई तिय नाथ के, हाथ परस ही हाथ॥

मतिराम— खेलत चोरमिहीचिनी, परे प्रेम पहिचानि।
जानी प्रगटत परस है, तिय लोचन पिय जानि॥

बिहारी— लिखन बैठि जाकी सबी, गही गही गरब गरूर।
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

रसनिधि— चतुर चितेरे तुब सबी, लिखत न हिय ठहराय।
कलम छुवत कर आँगुरी, कटी कटाछन जाय॥

रामसहाय— सगरब गरब खीचैं सदा, चतुर चितेरे आय।
पर बाकी बाँकी अदा, नेकु न खींची जाय॥

बिहारी— कहा भयौ जौ बीछुरे, मो मनु तो मन साथ।
उडी जाउ कितहूँ तऊ, गुड़ी उड़ाइक हाथ॥

रसनिधि— उड़ी उड़ी लौ मन फिरै, डोर लाल के हाथ।
नैन तमासे को रहै, लगे निरंतर साथ॥

बिहारी— पहुँचति डटि रन सुभट लौं, रोकि सकैं सब नाहिं।
लाखनहूँ की भीर में, आँखि उहीं चलि जाहिं॥

रामसहाय— धरी अभय भट भेदि कै, भूरि भरी हू भीर।
झमकि जुरहिं दृग दुहुँनि के, नेकु मुरहिं नहिं वीर॥

देखिए उपरिलिखित दोहों में कितनी समानता है, भावों की ही नहीं, शब्दों की भी। ये सभी कवि बिहारी के ऋणी हैं। इनके अतिरिक्त सेनापति, तोष, पद्माकर और रत्नाकर जैसे महामहिमशाली कवि भी बिहारी से प्रभावित हुए बिना न रहे। निम्न उदाहरणों से प्रतीत होगा कि उन्होंने किस

प्रकार बिहारी के भावों को ग्रहण किया है।

बिहारी— कर लै चूमि चढ़ाइ सिर, उर लगाय भुज भेंटि।
लहि पाती पिय की लखति, बाँचति धरति समेटि॥

सेनापति— ताही समै औचक ही काहू आनि चीठी दीनीं,
देखत ही सेनापति पाई प्रीति रति की।
माथे लै चढ़ाई दोऊ हगनि लगाई चूमि,
छाती लपटाय राखी पाती प्रानपति की॥

तोष— पढ़ि न सिराति पाती भूलि भूलि जाती नेकु,
सखियाँ न पावैं निज अँखियाँ दिये रहै।
रूसती रिसाती हँसि हँसि बतराती चूमि,
चाहि मुसकाती प्रेम-आसव पिये रहै॥

बिहारी— भौंहनु भासति मुँह नटति, आँखिनु सौं लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति करइँची-आगैं आवति जाति॥

पद्माकर— कर ऐंचत आवत इँची, तिय आपहि पिय ओर।
भूँठिहु रूसि रहै छिनक, छुवत छरा को छोर॥

बिहारी— गोरी गदकारी परैं, हँसत कपोलनु गाड़।
कैसी लसति गँवारि यह, सुनकिरवा की आड़॥

रत्नाकर— धारे सहज सिंगार गात गोरे गदकारे
बिहँसत गोल कपोल लोल लोचन कजरारे
सुनकिरवा की आड़ ताड़ लटकी तरपीली
गाढ़े गाढे कुचनि चिहुँटनी-माल सजीली॥

ये ही नहीं, स्वयं कविश्रेष्ठ आचार्य देव ने भी इनके अनेक भावों को लिया, यथा—

बिहारी— कहा भयो जो बीछुरे, तो मन मो मन साथ।

देव— या तन ते बिछुरे तो कहा, मन ते अनतैं जो बसौ तब जानौं।

बिहारी— दुहूँ ओर ऐंची फिरै फिरकी लौं दिन जाय।

देव— धाई फिरै फिरकी सी दुहुँ दिसि
देव दुवौ गुन जोर के ऐंचौं॥

बिहारी— पलन पीक अंजन अधर, दिये महावर भाल।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हो लाल॥

देव— भेष भलोई भली बिधि करि
भूलि परे किधौं काहू भुलाये।
लाल भले हो भली सिख दीन्ही
भली भई आजु भले बनि आये॥

इस प्रकार हम अनेक कवियों को प्रभावित हुआ देखते हैं। भावग्राहकता किसी को श्रेष्ठ और हीन तो नहीं सिद्ध करती परन्तु उस कवि के प्रति भावग्राहकों की श्रद्धा अवश्य व्यंजित करती है।

रीतिकालीन कवियों मे से बिहारी और देव को लेकर कुछ समय पूर्व बड़ा विवाद हुआ, चर्चा चली और अनेक पुस्तकें लिखी गई। किसी ने देव को श्रेष्ठ बतलाया तो किसी ने बिहारी को। सर्वप्रथम मिश्रबन्धुओं के पिता पं० बालदत्त ने देवकृत 'सुखसागर तरंग' नामक ग्रंथ की भूमिका में देव को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि बतलाया। उनकी दृष्टि में देव के समक्ष सूर, तुलसी और केशव भी जंच न सके। तदनन्तर मिश्रबन्धुओं ने सं० १९६७ में 'नवरत्न' नामक समालोचनात्मक पुस्तक लिखी, जिसमें देव को बिहारी से श्रेष्ठ बतलाया और बिहारी के कुछ दोष भी बतलाए। इन दोषों का उत्तर पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी की सतसई' नामक पुस्तक में दिया। तत्पश्चात् कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक एक पुस्तक लिखी और उसमे उन्होंने देव को बिहारी की अपेक्षा उच्च स्थान दिया। अंत में भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' नाम्नी पुस्तिका लिखी। उन्होंने इस पुस्तक मे मिश्रबन्धुओं के बताए हुए दोषों का बड़ी प्रखरता से परिमार्जन किया और देव में दोष बतलाते हुए बिहारी को श्रेष्ठ बतलाया।

बिहारी से देव को श्रेष्ठ बतलाते हुए मिश्रबन्धुओं ने जो दोष गिनाए, उनमें ये आठ प्रमुख हैं—

(१) बिहारी ने 'छाकु', 'उड़ायक' आदि पद बना लिए है।

(२) कही-कही इन्होंने असमर्थ शब्द भी कहे है, यथा 'दीजतु', 'ज्यों'।

(३) इन्होंने शब्दों को बहुत तोड़ा-मरोड़ा है, यथा—समर (स्मर), तूठ्यो (तुष्ट्यो), हराहरु (हलाहल), मोष (मोक्ष), गोरटी (गोरी) आदि।

(४) तुकांत के लिए भी शब्द मरोड़े हैं, जैसे—'कुचगिरि चढ़ि अति थकित ह्वै चली दीठ मुख चाड़' में चाड़ (चढ़कर)।

(५) कुछ दोहों में यतिभंग दोष है।

(६) कुछ में दूरान्वय दूषण है।

(७) अनेक स्थानों पर दूसरों के भाव ग्रहण किए हैं।

(८) बिहारी ने अश्लील वर्णन किया है।

इन दोषों पर स्वतंत्र विचार करने से प्रतीत होता है कि कुछ दोषों में कुछ वास्तविकता है और कुछ निराधार हैं। प्रथम दोष में सचाई है परन्तु किसी स्रोत से नूतन शब्दों का गठन कोई विचित्र बात नहीं। इसके लिए कोई कवि महान् दोषी नहीं हो सकता। यदि यह दोष है तो सभी कवि इसके दोषी होंगे क्योंकि सभी ने नए शब्दों का प्रयोग किया है। सातवें दोष में भी

यथार्थता है परन्तु हम पहले कह आए हैं कि भावग्रहण कोई अक्षम्य दोष नहीं, यदि वह नूतन सज्जा से आवृत हो। दूसरा, पाँचवाँ, छठवाँ और आठवाँ दूषण निराधार है क्योंकि (दूसरे में) 'दीजतु' और 'ज्यों' शब्द असमर्थ नहीं हैं, (पाँचवें में) यतिभंग दोष उन्हे इसलिए दीख पड़ा कि प्रभुदयाल की टीका का सहारा लिया और वह संस्करण विश्वसनीय नहीं, (छठवें में) दोहे जैसे १३-११ मात्रा वाले लघु छन्द में दूरान्वय हो कैसे सकता है और (आठवें में) शृंगार का वर्णन सामाजिक दृष्टि से अश्लील हो सकता है, रस की दृष्टि से नहीं। तीसरे दूषण में जिन शब्दों को गिनाया गया है, वे तत्सम शब्दों से अधिक तोड़े-मरोड़े दीख पड़ते हैं परन्तु इनको तत्सम रूप से देखना भूल है क्योंकि ये ब्रज के शब्द हैं और हो सकता है कि इनका यह रूप ब्रज में था अन्यत्र प्रयुक्त होता हो। चौथा दूषण तो उनकी अनभिज्ञता का परिचायक है। उपर्युक्त दोहे में 'चाड़' का अर्थ 'चढ़कर' नहीं वरन् चाह, चाव या प्रेम है।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर आते हैं कि बिहारी में दोषों की खोज अधिकांशतः पक्षपात से हुई। उनके ज्योतिष, वैद्यक एवं इतिहास के ज्ञान में कोई दोष नहीं मिलता क्यों कि जहाँ भी उन्होंने इसका प्रयोग किया है, वहाँ वे तत्सम्बन्धी शास्त्र के अनुसार ही चले हैं। हाँ, इनके प्रकृति-ज्ञान पर किसी-किसी को आपत्ति है। इन्होंने लिखा है—

> पावस घन अँधियार महँ रह्यो भेद नहिं आन।
> राति द्योस जान्यो परत लखि चकई-चकवान॥

इस दोहे में चकवी और चकवा का वर्षा में होना लिखा है। परन्तु ये वर्षा में नहीं होते। केशव नें वर्षाकालीन वर्णन में अन्य वस्तुओं के साथ चक्रवाक को नहीं गिनाया है।

> बरषा बरनहुँ सघन वक, चातक, दादुर, मोर।
> केतकि, कुंज, कदंब, जल, सौदामिनि, घनघोर॥

तुलसीदास ने तो स्पष्ट ही उनका न होना लिखा है—

> देखिय चक्रवाक खग नाहीं। कलिहि पाय जिमि धर्म पराहीं॥

परन्तु हम इस विषय मे इतना ही कहेंगे कि संस्कृत के कई कवियों ने चक्रवाक का वर्णन किया है। अतः वर्षा में चक्रवाकों के न होने पर भी कवि-उक्ति के अनुसार बिहारी ने ऐसा लिख दिया है।

इस समीक्षा से हम इस परिणाम पर आते हैं कि बिहारी का काव्य अधिकांश दोषों से मुक्त है। इसमें माधुर्य और प्रसाद गुणों का उज्ज्वल रूप

हमें दीख पड़ता है। पहले बताया जा चुका है कि बिहारी ने शृंगार का चित्रण सतसई में अनुपम ढंग से किया है। वास्तव में वे इस क्षेत्र में अद्वितीय हैं। इनकी ब्रजभाषा सूर के अतिरिक्त सबसे श्रेष्ठ है। देव की भाषा ऐसी मँजी हुई नहीं और न उनमें सहज काव्य-रुचि है प्रत्युत् चमत्कारवादिता अधिक है। वास्तव में वे रीति-कवि हैं। रीतिकालीन अन्य कवियों को तो उनके समकक्ष लाना धृष्टता ही होगी। अतः अन्त में कहना होगा कि हिंदी साहित्य में सूर, तुलसी और केशव के पश्चात् बिहारी का ही स्थान है और शृंगारिक सतसई-परम्परा में तो वे अपना सानी नहीं रखते।

भूषण

महाकवि भूषण के समय, बन्धु-बान्धव एवं जन्म-स्थान आदि के विषय में बड़ा मतभेद है। इनका नाम भी अभी निश्चित नहीं है। भूषण तो इनकी उपाधि थी, जो चित्रकूटाधिपति हृदयराम के पुत्र रुद्रराम ने इनकी कवि-प्रतिभा से प्रभावित हो सं० १७२२ में दी थी। भूषण स्वयं लिखते हैं—

> कुल सुलंक चित्रकूटपति साहस सील समुद्र।
> कवि भूषन पदवी दई हृदयराम सुत रुद्र॥

किसी नें इनका वास्तविक नाम मतिराम की चाल पर पतिराम बतलाया है तो किसी नें जटाशंकर को ही भूषण कहा है परन्तु निश्चित रूप से कोई प्रमाण नहीं दे सका है। बद्रीदत्त जी कृत कुमाऊँ के इतिहास में लिखा है कि महाराज साहू के राजकवि मनिराम राजा के पास अलमोड़ा आए थे और उन्होंने राजा की प्रशंसा में यह कवित्त सुनाया था—

> पुराण पुरुष के परम दृग दोऊ अहैं,
> ......कहत वेद बानी यों पढ़ गई।
> यें दिवसपति वे निसापति जोतकर हैं,
> काहू की बड़ाई बढ़ाये ते न बढ़ गई।
> सूरज के घर में करण महादानी भयो,
> यहै सोचि समुझि चितै चिन्ता मढ़ि गई।
> अब तोहि राज बैठत उदोतचन्द चन्द के,
> कर्ण की किरक करेजें सों कढ़ि गई॥

इस छन्द की द्वितीय पंक्ति में तीन अक्षर लुप्त हैं, सम्भवतः वे भूषण के ही तीन अक्षर हैं। भूषण कुमाऊँ नरेश उद्योतचन्द के आश्रय में गए भी थे। उपर्युक्त इतिहास में साहू के राजकवि 'मनिराम' लिखा है। साहू के राजकवि भूषण के अतिरिक्त और कोई नहीं थे, जो कुमाऊँ गए हों। अतः ये मनिराम भूषण ही जान पड़ते हैं।

भूषण के जन्म-काल के विषय में भी मतैक्य नहीं है। शिवसिंह सेंगर ने इनका जन्मकाल सं० १७३८ लिखा है और मिश्रबन्धुओं ने सं० १६७२। शिवसिंह ने जो समय दिया है, वह नितान्त अशुद्ध है क्योंकि महाराज

शिवाजी का निधनकाल सं० १६३७ है। यह कैसे हो सकता है कि भूषण अपने जन्म से पहले ही शिवाजी के यहाँ पहुँच गए हों। सं० १६७२ उचित जान पड़ता है क्योंकि इनके आश्रयदाताओं एवं घटनाओं से यह ठीक बैठता है।

इनके इस जन्मकाल की पुष्टि इनके बन्धु-विवरण से भी होगी। अतः इनके भाइयों के विषय में भी विचार करते हैं। सामान्यतः ये चार भाई कहे जाते हैं। शिवसिंह सेंगर और मिश्रबन्धु इस विषय में सहमत हैं।

मतिराम के पन्ती बिहारी लाल कवि ने 'विक्रम सतसई' की 'रत्नचन्द्रिका' नामक टीका में लिखा है—

बसत त्रिविक्रमपुर नगर, कालिन्दी के तीर।
विरच्यौ वीर हमीर जनु, मध्य देश को हीर॥
भूषण चिन्तामणि तह., कवि भूषण मतिराम।
नृप हमीर सम्मान ते, कीन्हों निज-निज धाम॥

इससे स्पष्ट है कि कालिन्दी के तीर पर त्रिविक्रमपुर नगर में भूषण, चिन्तामणि और मतिराम निवास करते थे। बिहारीलाल मतिराम के पन्ती थे, क्योंकि उन्होंने उक्त टीका मे लिखा है—

हैं पन्ती मतिराम के सुकवि बिहारी लाल।

अतः बिहारीलाल का उपर्युक्त कथन ठीक ही है। भूषण स्वयं अपने निवास-स्थान के विषय में लिखते हैं—

बसत त्रिविक्रमपुर सदा, तरनि तनूजा तीर।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भूषण, चिन्तामणि एवं मतिराम मे कोई सम्बन्ध था। चिन्तामणि के आश्रयदाताओं का समय सं० १७०० से प्रारम्भ होता है और तभी से इन्होंने रचना प्रारम्भ की। इनका 'कविकुल कल्पतरु' नामक ग्रन्थ सं० १७०७ का लिखा है। भूषण का समय भी यही है। अतः इनमें भ्रातृत्व की सम्भावना ठीक जान पड़ती है। किसी ने इसका विरोध भी नहीं किया है। 'तज़्किरए सब-आज़ाद' और 'वंश भास्कर' भी इसका समर्थन करते हैं।

मतिराम की सर्वप्रथम रचना रहीम के 'बरवै नायिका भेद' पर उनके लक्षण हैं। रहीम ने 'बरवै नायिका भेद' को सं० १६५५ के आसपास लिखा था। यदि उसके ४-५ वर्ष पश्चात् हम मतिराम के लक्षण-ग्रन्थ की रचना मानें तो उसका रचना-काल सं० १६६० के लगभग ठहरेगा। सं० १६६५ के आसपास उन्होंने जहाँगीर के आश्रय में 'फूलमञ्जरी' का निर्माण किया।

पुनः मतिराम के नाम से अनेक ग्रन्थ मिलते हैं, जो भिन्न-भिन्न आश्रयदाताओं के आश्रय में लिखे गए। 'ललित ललाम' बूँदी नरेश भाऊसिंह के आश्रय में, 'मतिराम-सतसई' राजा भोगनाथ के आश्रय में, 'अलंकार पंचाशिका' कुमाऊँ के राजकुमार ज्ञानचन्द के लिए तथा 'छन्दसार पिंगल' की रचना कुण्डार के राजा स्वरूपसिंह बुन्देला के लिए निर्मित हुए। इन ग्रन्थों से उनके और भी अनेक आश्रयदाताओं का पता चलता है। 'ललित ललाम' से ज्ञात होता है कि वे बूँदी-नरेश गोपीनाथ के आश्रय में भी रहे। एक स्थान पर 'छन्दसार पिंगल' में उन्होंने इन चार आश्रयदाताओं की प्रशंसा की है—श्रीनगर-नरेश फतहशाह, कुमाऊँपति उद्योतचंद और ज्ञानचंद तथा कुण्डारपति स्वरूपसिंह बुन्देला। मतिराम के नाम से एक छंद और मिला है जिसे पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने सं० १९८१ वि० के ज्येष्ठ मास की माधुरी पत्रिका में प्रकाशित कराया था। उसके अनुसार असोथर नरेश भगवन्तराय खीची भी इनके आश्रयदाता थे। खीची का निधन-काल सं० १७९२ है क्योंकि इसी वर्ष वे सहादतखाँ के साथ युद्ध मे मारे गये थे।

उपरिलिखित विवरण से प्रतीत होता है कि मतिराम का रचना काल सं० १६६० से प्रारम्भ होकर लगभग १७९० तक पहुँचता है, जो (१३० वर्ष का समय) एक कवि के लिये नितान्त असम्भव है। यदि उनके आश्रयदाताओं की सूची बनाई जाए तो निम्नलिखित होगी—

रहीम कवि (सं० १६३०), जहाँगीर बादशाह, बूँदी-नरेश गोपीनाथ, बूँदी-नरेश भाऊसिंह, राजा भोगनाथ, श्रीनगर के राजा फतहशाह, कुमाऊँ-नरेश उद्योतचन्द एवं राजकुमार ज्ञानचन्द, कुण्डारपति स्वरूपसिंह बुन्देला और भगवन्त राय खीची (लगभग सं० १७९०)।

इससे प्रतीत होता है कि ये दो मतिराम थे। प्रथम मतिराम का रचनाकाल सं० १६६० से प्रारम्भ होकर १७१९ तक पहुँचता है क्योंकि 'ललित ललाम' में इसके पश्चात् की घटना नहीं है। अतः इनके आश्रयदाता उपर्युक्त पाँच नरेश थे। यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि सं० १७१९ वि० सं० १७४७ तक मतिराम के नाम से कोई रचना नहीं मिलती। पुनः सं० १७४७ के लगभग की रचना 'छन्दसार पिंगल या वृत्तकौमुदी' इस नाम से मिलती है। अतः सं० १७४७ से लिखने वाला कवि द्वितीय मतिराम है और शेष पाँच नरेश—फतहशाह, उद्योतचन्द, ज्ञानचन्द, स्वरूपसिंह और भगवन्तराय—इनके आश्रयदाता थे।

द्वितीय मतिराम ही भूषण के समसामयिक थे। इनके पाँच आश्रयदाताओं से चार फतहशाह, उद्योतचंद, ज्ञानचंद और भगवंतराय भूषण के भी

आश्रयदाता थे। प्रथम मतिराम के आश्रयदाताओं की प्रशंसा मे भूषण का एक भी छंद हमे नही मिलता।

इस प्रकार द्वितीय मतिराम की भूषण के साथ समसामयिकता तो सिद्ध हुई परन्तु उसकी सहोदरता पर प्रकाश नहीं पड़ता। पहले कह आए हैं कि बिहारीलाल ने भूषण, चिन्तामणि और मतिराम का एक स्थान पर निवास लिखा है। चिन्तामणि तो निश्चित ही भूषण के भाई थे परन्तु मतिराम उनके भाई प्रतीत नही होते क्योंकि भूषण और मतिराम के गोत्र एवं पितृनाम में अंतर है। भूषण 'शिवराज भूषण' के प्रारम्भ में अपना कश्यप गोत्र और पिता का नाम रत्नाकर लिखते हैं—

दुज कनौज कुल कस्यपी रतनाकर सुत धीर।

मतिराम ने 'छंदसार पिंगल' में अपने को वत्स गोत्री और पिता का नाम विश्वनाथ लिखा है—

तिरपाठी वनपुर बसैं, वत्स गोत्र सुनि गेह।
विबुध चक्रमणि पुत्र तहँ, गिरिधर गिरिधर देह॥
भूमिदेव बलभद्र हुव, तिनहिं तनुज मुनि गान।
मंडित पंडित मंडली, मंडन मही महान॥
तिनके तनय उदारमति, विश्वनाथ हुव नाम।
दुतिधर श्रुतिधर को अनुज, सकल गुननि कौ धाम॥
तासु पुत्र मतिराम कवि, निज मति के अनुसार।
सिंह स्वरूप सुजान को, बरन्यौ सुजस अपार॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मतिराम और भूषण भाई नहीं थे, हाँ, साथ-साथ अवश्य रहते थे जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

नीलकंठ उपनाम जटाशंकर भूषण के समकालीन थे क्योंकि इन्होंने पौरच-नरेश अमरेश के लिए 'अमरेश विलास' की रचना सं० १७९८ में की थी तथा वे श्रीनगर के राजा फतहशाह के दरबार में भी रहे थे और फतहशाह भूषण के आश्रयदाता थे ही। परन्तु हम नीलकण्ठ को भूषण का भाई नहीं मान सकते, क्योंकि मतिराम के पंती बिहारीलाल ने त्रिविक्रमपुर मे निवास करते हुए भूषण, चिंतामणि और मतिराम तो लिखे है परन्तु नीलकण्ठ का नाम नहीं लिखा। वंशभास्कर आदि स्रोत भी इस विषय में मौन हैं।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर आते हैं कि भूषण कश्यप-गोत्री कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १६७२ में हुआ था। इनके पिता का नाम रत्नाकर था और त्रिविक्रमपुर (कानपुर जिलांतर्गत तिकवापुर) इनका निवास-स्थान था। हो सकता है कि इनका जन्म बनपुर में हुआ हो

ग्रौर त्रिविक्रमपुर में जा बसे हों। चिंतामणि इनके बड़े भाई थे। भूषण इनकी उपाधि थी, संभवत: इनका वास्तविक नाम मनिराम था।

एक कथा के ग्रनुसार भूषण युवावस्था तक बड़े ग्रल्हड़ ग्रौर ग्रकर्मण्य थे। चिंतामणि कमाकर लाते थे ग्रौर भूषण घर बैठे खाते थे। एक बार भोजन में नमक कम होने के कारण भूषण ने ग्रपनी भाभी से नमक माँगा, इसपर भाभी ने ताना देते हुए कहा, 'कहाँ से नमक लाऊँ, तुमने बहुत कमा के रख दिया है न !' यह सुनकर भूषण खाने पर से उठ गए ग्रौर घर से निकल गए। इन्होंने विद्याध्ययन किया ग्रौर शीघ्र ही जगदम्बा की कृपा से एक प्रतिभाशील कवि हो गए।

भूषण के ग्रंथों से पता चलता है कि उस समय की परिस्थिति बड़ी विषम थी। दिल्ली के सिंहासन पर मुगलवंश का महाप्रतापी किंतु क्रूर ग्रौर कट्टर शासक ग्रौरंगजेब ग्रासीन था। दक्षिण मे बीजापुर, गोलकुण्डा, ग्रहमद-नगर, एलिचपुर ग्रौर बीदर मुस्लिम राज्य थे, जिनमें क्रमश: ग्रादिलशाही, कुतुबशाही, निजामशाही, इमादशाही ग्रौर बारीदशाही राजघराने राज्य करते थे। इनमें बीजापुर ग्रौर गोलकुण्डा के राज्य प्रबल थे। ग्रौरंगजेब ने इन सबको परास्त कर दिया था। उत्तर के भी प्राय: सभी राज्य ग्रौरंगजेब की पराधीनता स्वीकार कर चुके थे। श्रीनगर, नैपाल, मेवाड़, ढुंढार, मारवाड़, बुन्देलखंड, झारखंड ग्रादि सभी उत्तराखंड के राजे-महाराजे बादशाह को कर देते थे। उदयपुर के महाराणा, बूंदी ग्रौर कोटा के क्षत्रिय हाड़ा, जोधपुर के राठौर, ग्रम्बर के कछवाहे ग्रौर सुपुर के गौर ग्रपनें घुटने टेक चुके थे ग्रौर बादशाह की चाकरी करते थे।

सभी मुसलमान बादशाह हिंदुग्रों पर घोर ग्रत्याचार करते थे। परंतु दक्षिण के शाह इतने प्रबल नहीं थे। मुगल बादशाह ग्रौरंगजेब तो क्रूरता का ग्रवतार ही था। ग्रकबर ने जिस शासन की नींव प्रेम पर डाली थी ग्रौर जिसे जहाँगीर ग्रौर शाहजहाँ ने संवर्द्धित किया था, ग्रौरंगजेब ने ग्रपनी घृणापूर्ण ग्रौर विद्वेष-विदूषित नीति से उसकी जड़ों को हिला दिया। उसनें हिंदुग्रों पर जजिया लगा दिया था और सहस्रों मंदिरों को तुड़वा कर मसजिदें बनवा दी थीं। मथुरा में केशवराय का देवालय और काशी में विश्वनाथ का मंदिर ध्वस्त कर क्रमश: जामा मसजिद ग्रौर ज्ञानवापी मसजिद निर्मित की थी। मंदिरों में पूजापाठ भी वर्जित हो गया था, धर्म-क्रियाएँ प्राय: गुप्त रूप से होती थीं, तिलक ग्रौर जनेऊ का ग्रपमान चौड़े में किया जाता था, धार्मिक ग्रन्थ जला दिए जाते थे ग्रौर हिंदू-महिलाग्रों का ग्रपमान एक साधारण बात

हो गई थी। नारनौल के सतनामी सन्तों की हत्या तो उसके जघन्य कृत्यों में एक प्रमुख कृत्य है। साधारण जनता की तो यह दुरवस्था थी ही, उसके बड़े बड़े पदाधिकारी भी उसके नृशंस कृत्यों का शिकार हुए। जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह को जानकर थोड़ी-सी सेना के साथ अफगानों से लड़ने के लिए भेज दिया और वे वहाँ बड़ी निर्दयता के साथ मार डाले गए। उनके निधनोपरांत उनके पुत्र पृथ्वीसिंह को विषैली पोशाक पहनाकर तड़पा-तड़पाकर मार डाला। सिक्खों पर भी अत्याचार कम न थे। सिक्खों के गुरु तेगबहादुर को बादशाह की आज्ञा से मार डाला गया और उनके पश्चात् उनके पुत्र गोविन्दसिंह सिक्खों के गुरु हुए। बादशाह ने उनके दो पुत्रों को जीवित ही दीवार में चुनवा दिया।

औरंगजेब प्रकृति का बड़ा नीच था। उसने हिंदुओं के साथ जो कुछ किया वह उस घृणास्पद अधमता का परिणाम था, जिसके वशीभूत होकर उसने अपने जीवित बाप को बन्दीगृह में डाल दिया था, जहाँ वह सात वर्ष तक भूख और प्यास की गुरुतम यातनाओं को झेलकर निधन को प्राप्त हुआ, अपने बड़े भाई दारा का शिरश्छेद कर एक तश्तरी में अपने बाप के सामने भेंट स्वरूप भेजा था, शुजा को मारकर जंगलों मे भगा दिया था जहाँ उसे भयानक सिंह चीर कर खागया और छोटे भाई मुराद को भी जीवित न रहने दिया। उसके अपने औरस पुत्र भी उससे डरते थे और अकबर उससे विद्रोह कर दुर्गादास से जा भी मिला था।

इसकी प्रतिक्रिया अवश्यंभावी थी। उत्तर में सिक्ख और जाटों ने भयंकर विद्रोह किए, महाराज छत्रसाल ने भी सामना किया और दक्षिण में मराठों ने लोहा लेना प्रारम्भ किया। ऐसे विषम समय मे सं० १६८४ मे शिवनेर के दुर्ग में शिवाजी का जन्म हुआ। बचपन में ही उसने अपनी माता और दादा कोणदेव से मुसलमानी अत्याचार की कहानियाँ सुनी अतः कुछ बड़ा होकर मावली लोगों की सहायता से उसने सर्वप्रथम बीजापुर के क़िलों को जीतना प्रारम्भ किया। पुनः गोलकुण्डा के अनेक दुर्ग जीते। इन युद्धों में बीजापुर के महा भयंकर दैत्याकार सेनापति अफजलखाँ को भी इन्होंने मार डाला। तदन्तर इन्होंने मुगलों को परास्त किया। मुगलों के साथ युद्ध करते हुए इन्हें महाराज जयसिंह और बादशाह के मामा शाइस्ताखाँ जैसे प्रखर सेनापतियों का सामना करना पड़ा। इन्होंने सूरत में अंग्रेजों की छावनी को कई बार लूटा। शिवाजी का आतंक इतना फैल गया कि नगरगढ़, चाँदा और करनाटक के राजा इनसे थर-थर काँपते थे। यही नहीं, विदेशों में इनकी धाक जम गई थी। अबीसीनिया, फिरंगाना, अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, फारस और

टर्की आदि देश भी डरने लग थे। जो भी शिवाजी का सामना करता था, वह या तो परास्त होता था या मृत्यु के घाट उतार दिया जाता था।

भूषण ने विद्याध्ययन कर जब चतुर्दिक दृष्टि डाली तो उन्हें यह भयानक परिस्थिति दृष्टिगोचर हुई। वे मुस्लिम साम्राज्यवादिता से बड़े क्षुब्ध हुए और उन्होंने हिन्दू राजाओं के आश्रय में रहकर हिन्दू धर्म एवं हिन्दू जनता की रक्षार्थ प्रतिज्ञा ली। इसी ध्येय से वे सर्वप्रथम चित्रकूटाधिपति हृदयराम के पुत्र रुद्रराम सोलंकी के दरबार में गये। यहीं पर उन्हें सं० १७२२ में 'कविभूषण' की उपाधि मिली। इसके पश्चात् वे अनेक राजाओं के आश्रय में रहे। उन्होंने देश का व्यापक भ्रमण किया। वे मोरंग, कुमायूँ, श्रीनगर, मेंडू, पन्ना, बूँदी, बान्धव या रीवाँ, चित्रकूट, दिल्ली, जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, रायगढ़, बीजापुर, गोलकुण्डा और सितारा आदि भारतवर्ष के अनेक दूर दूर के राजाओं के यहाँ गये तथा अनेक स्थानों को देखा। उनके आश्रयदाताओं की सूची इस प्रकार बनाई जा सकती है—

(१) चित्रकूटाधिपति हृदयराम और रुद्रराम
(२) महाराज शिवाजी
(३) कुमाऊँ नरेश उद्योतचन्द
(४) श्रीनगर के राजा फतहशाह
(५) रीवाँ (बान्धव) नरेश अवधूतसिंह
(६) अम्बर नरेश महाराज जयसिंह
(७) बूँदी के राजा बुधसिंह
(८) मेंडू नरेश अनिरुद्धसिंह
(९) असोथर नरेश भगवन्तराय खीची
(१०) सिताराधिपति छत्रपति शाहू
(११) दिल्ली का बादशाह जहाँदारशाह
(१२) बाजीराव पेशवा
(१३) चित्रकूटाधिपति बसन्तराय सुरकी
(१४) पन्ना के महाराज छत्रसाल

भूषण इन सभी राजा-महाराजाओं के दरबार में रहे और इनकी प्रशंसार्थ उन्होंनें छन्द भी लिखे परन्तु शिवाजी के अटूट साहस, अदम्य शक्ति, प्रचण्ड तेज और राष्ट्र-प्रेम से वे बड़े प्रभावित हुए। अतः उन्होंनें उनकी अधिक प्रशंसा की। उनकी शौर्य-गाथा के निमित्त ही उन्होंने 'शिवराज भूषण' ग्रंथ लिखा। 'शिवाबावनी' के भी अधिकांश छन्द शिवाजी की प्रशंसा

में ही हैं। जितना मान उनकी दृष्टि में शिवाजी का था, उतना और किसी का न था। उनके चित्त को शान्ति शिवाजी को रिझा कर ही होती थी। शिवराज भूपण में वे एक स्थान पर लिखते हैं—

मोरंग जाहु कि जाहु कुमाऊँ, सिरी नगरै कि कवित्त बनाये।
बान्धव जाहु किं जाहु अमेरि, कि जोधपुरै कि चित्तौरहि धाये।
जाहु कुतुब्ब कि एदिल पै, कि दिलीसहु पै किन जाहु बुलाये।
भूषन गाय फिरौ महि में, बनिहै चित चाह सिवाहि रिझाये॥

कृतियाँ—भूषण की तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं—शिवराज भूपण, शिवा-बावनी और छत्रसाल दशक। इनके अतिरिक्त इनके कुछ स्फुट छन्द भी हैं। इनके तीन ग्रन्थ और कहे जाते हैं—भूषण उल्लास, दूषण उल्लास और भूषण हजारा।

शिवराज भूषण—इसके प्रारम्भ में ही भूषण नें शिवाजी का निवास स्थान रायगढ़ लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ की रचना शिवाजी के रायगढ़ में बस जाने पर ही हुई होगी। शिवाजी सं० १७१९ में रायगढ़ पधारे थे। इसके पश्चात् ही भूषण इनके दरबार मे आए होंगे। भूषण इससे पूर्व चित्रकूट-नरेश के दरबार मे रहते थे और वहीं सं० १७२२ में उन्हे भूषण की उपाधि मिली थी। इसके पश्चात् वे शिवाजी के दरबार में पधारे परन्तु यह शिवाजी के सं० १७२३ में आगरे जाकर लौटने के पश्चात् ही हुआ और तत्पश्चात् शीघ्र ही शिवराज भूषण का निर्माण प्रारम्भ हुआ क्योंकि शिवराज भूषण के प्रारम्भ में ही दिल्ली दरबार के दुर्व्यवहार और शिवाजी के क्षोभ का बड़ा बेढब वर्णन है। शिवराज भूषण के अन्त में इसकी रचना के सम्बन्ध मे एक दोहा लिखा—

सुभ सत्रहसै तीस पर, बुध सुदि तेरस मान।
भूषण सिवभूषन कियो, पढ़ियौ सुनौ सुजान॥

इसके अनुसार इसका निर्माण सं० १७३० में हुआ परन्तु इस ग्रन्थ में सं० १७३७ तक की घटनाएँ मिलती हैं। अतः इसका समाप्ति काल सं० १७३७ है। यह दोहा प्रक्षिप्त प्रतीत होता है।

भूषण ने यह ग्रन्थ अलंकारों के विचार से ही लिखा। उन्होंनें ग्रंथारम्भ से पूर्व लिखा है—

सिव चरित्र लखि यों भयो कवि भूषन के चित्त।
भाँति भाँति भूषननि सों भूषित करौं कवित्त॥
सुकविन हूं की कछु कृपा समुझि कविन को पंथ।
भूषन भूषनमय करत शिवभूषन सुभ ग्रन्थ।

भूषन सब भूषननि में उपमहि उत्तम चाहि ।
याते उपमहि आदि दै बरनत सकल निवाहि ॥

इससे स्पष्ट है कि कवि को शिवा-शौर्य त गाना ही था, साथ ही अलंकारों का वर्णन भी करना था। इस ग्रंथ में ३०० से ऊपर छन्द है और प्राय: सभी अलंकारों का सलक्षण एवं सोदाहरण विवेचन किया है। कुछ अलंकार छूट भी गए हैं, यथा—तद्रुप रूपक, सम्बन्धातिशयोक्ति, प्रस्तुतांकुर, द्वितीय पर्यायोक्ति, तृतीय विषय, द्वितीय एवं तृतीय सम, प्रथम अधिक, अल्प, द्वितीय व्याघात, द्वितीय अर्थान्तिरन्यास, ललित, प्रथम एवं तृतीय प्रहर्षण, रत्नावली, गूढ़ोक्ति आदि।

भूषण ने अनेक अलंकारों के लक्षणों एवं उदाहरणों मे गड़बड़ करदी है। इनका रूपक लक्षण अभेद रूपक से भिन्न नहीं है, जैसा कि उन्होंने लिखा है कि जहाँ उपमेय और उपमान का भेद-वर्णित नही होता, वहाँ रूपक होता है। भ्रम अलंकार का लक्षण इन्होंने सीधा-सादा लिख दिया है कि जहाँ एक वस्तु का दूसरी वस्तु में भ्रम हो जाए। उदाहरण तो निपट अशुद्ध है। कवि ने शाइस्ताखाँ को बन्दी करना लिखा है परन्तु वह बन्दी नहीं हुआ था, भाग गया था। इसी मे भ्रम बतलाया है परन्तु यहाँ भ्रम है कहाँ, यह तो अयथार्थ वचन है। सन्देह का लक्षण भी सीधा-सादा है, यथा—यह है या यह, जहाँ ऐसा सन्देह होता है वहाँ सन्देह अलंकार होता है। परन्तु यह लक्षण अपूर्ण है। वास्तव में सन्देह का लक्षण यह होना चाहिए कि जहाँ सादृश्य के कारण उपमेय में उपमान का अनेक कोटि का ज्ञान होता है, वहाँ सन्देह होता है। हेत्वपह्नुति में अन्य आचार्यों के विपरीत भूषण ने कारण को ऊह्य रक्खा है। उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्षा का विषय कथित होता है। उदाहरण मे कवि शिवाजी द्वारा अफजलखाँ के पछाड़े जाने में सिंह द्वारा हाथी के पछाड़े जाने की सम्भावना करता है, किन्तु उसे निश्चय है कि यह बात नहीं है फिर भी आरोप कर रहा है। सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा और असिद्धविषया-हेतूत्प्रेक्षा मे से केवल प्रथम ही रक्खी है। निदर्शना के भेद भी पृथक् स्पष्ट नही किए हैं, केवल एक ही लक्षण लिख दिया है। व्यतिरेक के दो उदाहरण दिए हैं, उनमें से प्रथम में व्यतिरेक की अपेक्षा प्रतीप अधिक घटता है, क्योंकि उसमें उपमान इन्द्र का-उपमेय शिवाजी के वैभव के समक्ष उपहास उड़ाकर इन्द्र को नीचा बताया गया है। विकल्प के दोनों ही उदाहरण अशुद्ध है क्योंकि उन्होंने चतुर्थ पद में निश्चयात्मकता ला दी है जो स्वयं उन्हीं के लक्षण के विरुद्ध है। प्रथम प्रश्नोत्तर में अभंग-सभंग द्वारा प्रश्न ही में उत्तर निकलता है परन्तु भूषण के न लक्षण में और न उदाहरण में ही अभंग-सभंग का समावेश है।

इस प्रकार भूषण ने इस ग्रन्थ में अनेक अलंकारों को छोड़ दिया है और अनेक के लक्षण एवं उदाहरणों में गड़बड़ कर दी है। परन्तु कई अलंकारों के लक्षण इसलिए लोग दूषित बतलाते हैं कि उन्हें (लोगों को) अलंकारों का सही-सही ज्ञान नहीं, यथा—भूषण परिणाम और रूपक मे भेद इस प्रकार करते हैं कि उपमान की क्रिया हो तो परिणाम होता है और उपमेय की हो तो रूपक परन्तु कुछ का विचार इससे बिलकुल विपरीत है। भूषण ने अपना लक्षण साहित्यदर्पण के अनुसार लिखा है, अतः उसमें यथार्थता है। इसी प्रकार किसी का कहना है कि इनका विरोध का लक्षण ठीक नहीं है—

'द्रव्यक्रिया गुण में जहाँ उपजत काज विरोध'

परन्तु यह लक्षण भी साहित्यदर्पण के निम्न लक्षण के अनुसार ही है—

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः।
क्रिया क्रिया द्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः॥
विरुद्धमेव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः॥

इन लक्षणों में कोई भेद नहीं है। हाँ, भूषण साहित्यदर्पणकार के लिखे हुए विरोध के दश भेद नहीं मानते हैं।

यहाँ एक बात ज्ञातव्य है और वह यह कि भूषण ने ग्रन्थ को विशाल-काय होने से बचाने के लिए भी सूक्ष्मता को महत्व दिया है तथा स्वतंत्र होने के नाते साहित्यदर्पण आदि का सहारा लेते हुए भी उन्होंने मौलिक लक्षण लिखे हैं। कहीं-कहीं उनके उदाहरणों में जो व्यभिचरण दीख पड़ता है, वह उनके शिवाजी के शौर्य-वर्णन में भावावेश का परिणाम है। उनकी शैली से स्पष्ट दीख पड़ता है कि उनका उत्साह जितना उदाहरण के रूप में शौर्य-वर्णन, गुणगान एवं चामत्कारिक उक्तियों का कथन है, उतना लक्षण-योजना एवं उदाहरण रचन में नहीं है।

शिवराजभूषण में निम्न छन्दों का प्रयोग हुआ है—

दोहा, छप्पय, हरिगीतिका, गीतिका, लीलावती, मालतीसवैया, अलसा सवैया, अमृतध्वनि और कवित्त मनहरण।

इसमें से मालती सवैया और कवित्त मनहरण का बड़ी प्रचुरता से प्रयोग किया है। अलंकारों के लक्षण दोहा में लिखे हुए हैं। कुछ लोगों का कथन है कि कहीं-कहीं छन्दोभंग, यतिभंग, न्यून-अधिक पद दोष एवं व्याकरण सम्बन्धी दोष छन्दों में दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं

है। इसका कारण यह है कि उन्होंने कहीं-कहीं विराम चिह्नों का प्रयोग नहीं किया है, कहीं अन्वय की क्लिष्टता हो गई है और कहीं शब्द ऐसे रूप में मिलता है कि जिसमें ह्रस्व एवं दीर्घ मात्रा के परिवर्तन का स्रोत पता नहीं चलता। ज्ञात नहीं कि शब्द का वह विगलित रूप उसी रूप में भूषणकृत है या किसी सम्पादक की कृपा से है अथवा मुद्रण की छाप का परिणाम है।

इस ग्रन्थ मे वीर रस की प्रधानता है। वीर रस का जैसा परिपाक हम इसमे पाते है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। काव्य शास्त्र के अनुसार ओजगुण अपनी पूर्ण सज्जा के साथ इसमे व्यवहृत हुआ है। शब्दों म इतना ओज और दृढ़ता हैं कि पाठक एवं श्रोता स्वयं स्फूर्तिमान् हो जाते हैं, उनका वक्षस्थल फूल जाता है, बाहू फड़कने लगते हैं और मुख तेजोमय हो जाता है। शिवाजी का महान् अदम्य उत्साह जब मर्यादा तोड़ता दीखता है तो पाठक का मानस भी उत्साह-तरंगों में डुबकियाँ लेने लगता है। वीर रस चार प्रकार का होता है—दानवीर, दयावीर, धर्मवीर और युद्धवीर। शिवराज भूषण में वीर रस के इन सभी प्रकारों के अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते है।

दानवीर— सहज सलील सील जलद से नील डील,
पव्वय से पील देत नहिं अकुलात हैं।
भूषन भनत महाराज सिवराज देत,
कंचन कौ ढेरु सो सुमेरु सो लखात है॥

दयावीर— तू सबको प्रतिपालनहार विचारे भतार न मारु हमारे।

धर्मवीर— राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यौ,
अस्मृति पुरान राखे वेद विधि सुनी मैं।
राखी रजपूती राजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यौ राख्यौ गुन गुनी में।

युद्धवीर— चढ़त तुरंग चतुरंग साजि सिवराज,
चढ़त प्रताप दिन दिन अति जंग में।
भूषन चढ़त मरहट्टन के चित्त चाव,
खग्ग खुलि चढ़त है अरिन के अंग में॥

इस ग्रन्थ में भूषण ने केवल वीर रस का ही चित्रण नहीं किया है। वीररस की तो प्रधानता है। शेष अन्य रस भी सहकारी होकर इसमें आए हैं। शिवाजी का विक्रम बतलाते हुए भूषण लिखते है कि उनके विक्रम से वैरि-नारियों में व्याकुलता छाई हुई है अतः उनकी रमणीय कनक तनु-लताओं पर चन्द्राननों में स्थित अक्षि-अरविन्दों से अश्रु-मकरन्द झड़ रहे हैं।

कनक लतानि इन्दु इन्दु माहिं अरविन्द,
झरैं अरविन्दन ते बुन्द मकरन्द के।

वीररस का वर्णन करते हुए नारी के अगो का यह सरस वर्णन शृंगार-परक है और उनकी आखों से अश्रुओं का झड़ना करुण का उद्भावक है परन्तु ये शिवाजी के विक्रम की प्रचण्डता के प्रकाशक होने से वीर के ही सहायक हैं।

इसी प्रकार हास्य, रौद्र, भयानक और वीभत्स, भी अपने बड़े उज्ज्वल रूप मे वीर के सहकारी के रूप में आए हैं—

हास्यरस—

एक समै सजि कै सब सैन सिकार को आलमगीर सिधाए।
'आवत है सरजा सम्हरौ' एक ओर ते लोगन बोल जनाए।
भूषन भो भ्रम औरङ्ग के सिव भौंसिला भूप कि धाक धुकाये।
धायकै 'सिह' कह्यो समुझाय करौलनि आय अचेत उठाये॥

रौद्र—

आवत गुसुलखाने ऐसे कछु त्यौर ठाने,
जाने अवरंगजू के प्रानन को लेवा है।
रस खोट भए ते अगोट आगरे मै सातौ—
चौकी डांकि आनि घर कीन्ही हद रेवा है॥

भयानक—

भौसिला के डरन डरानी रिपुरानी कहै,
पिया भजौ देखि उदौ पावस के साज को।
घन की घटा न, गज घटनि सनाह साजे,
भूषण भनत आयो सेन सिवराज को।

वीभत्स—

शिवाजी की करवाल के लिए कहते है—

चण्डी है घुमंडि अरि चंड मुंड चाबि करि,
पीवत रुधिर कछु लावत न बार को।
निज भरतार भूत भावन की भूख मेटि,
भूषित करत भूतनाथ भरतार को॥

इसके अतिरिक्त अद्‌भुत का भी चित्रण यत्र-तत्र हुआ ही है। चकत्ता (औरंगजेब) तो बिचारा भौचक्का-सा रहता ही है।

यह ब्रज भाषा का मुक्तक काव्य है—यदि लक्षण ग्रन्थ कहा जाए तो अधिक उचित होगा। भूषण की भाषा के विषय में हम विशेष रूप से आगे लिखेंगे।

इस ग्रन्थ में सैकड़ों ही ऐतिहासिक घटनाओं का स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से वर्णन है। उस समय के इतिहास पर इससे बड़ा प्रकाश पड़ता है। भूषण के दूर-दूर देशों के भ्रमण का ब्यौरा भी इसके बल पर प्रस्तुत किया जा सकता है। हमने पहले जो शिवाजी के भ्रमण एवं आश्रयदाताओं के सम्बन्ध में लिखा है, वह इसी के आधार पर लिखा है। अत: यह ग्रन्थ अलंकार-मञ्जूषा होने के अतिरिक्त ऐतिहासिक कोष भी है।

शिवाबावनी—शिवाबावनी ५२ स्वतन्त्र छन्दों का एक संग्रह है। इसमें कोई प्रबन्धात्मकता नहीं। कहते हैं कि जब सर्वप्रथम भूषण शिवाजी से मिले तो उन्हें 'इन्द्र जिमि जंभ पर वाडव सुअम्ब पर' इत्यादि छन्द सुनाया। शिवाजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और छन्द पर छन्द सुनाने के लिए कहते गए। भूषण ने एक से एक ओजपूर्ण ५२ छन्द सुनाए, उन्हीं का यह संग्रह है। किसी-किसी का कहना है कि एक ही छन्द बार-बार सुनाया, किसी का कथन है कि १८ छन्द सुनाए परन्तु लोकनाथ कवि ने स्पष्ट लिखा है—

भूषन निवाज्यो जैसे शिवा महाराज जू
ने बारन दे बाबन धरा में जस छाव है।

इससे ५२ हाथी देने की बात सिद्ध होती है। बावन हाथी ५२ छन्दों पर ही दिये होंगे। कुछ लोगों का कथन है कि ये छंद शिवाजी को नहीं, शाहू जी को सुनाए थे क्योंकि भूषण शिवाजी के दरबारी कवि न थे परंतु हमें यह मान्य नही क्योंकि स्वयं लोकनाथ कवि ने शिवा नाम लिखा है"। इसके अतिरिक्त पहले हम सिद्ध कर आए हैं कि भूषण शिवाजी के दरबारी कवि थे। भूषण ने एक स्थान पर लिखा है कि आप मोरंग, कुमाऊँ, श्रीनगर, बान्धव, आमेर, जोधपुर, चित्तौड़, बीजापुर एवं दिल्ली में से किसी भी स्थान के नरेश के यहाँ जाएँ और उनकी गुण-गाथा गाएँ परन्तु आपकी अभिलाषा पूर्ण न होगी। अभिलाषा तो शिवाजी को रिझाने से ही पूर्ण होगी। यदि भूषण शिवाजी के समकालीन न होते और उनके सम्पर्क मे आकर उनकी प्रकृति से पूर्ण परिचित न हो गये होते तो यह भविष्यदर्शक वचन क्यों कहते। इससे स्पष्ट यह है कि वे शिवाजी को रिझा चुके थे।

शिवाबावनी में कुछ घटनाओं पर लोगों को आपत्ति है कि यदि ये छन्द शिवाजी को सुनाए गये थे तो पश्चात् की घटनाएँ उसमें किस प्रकार वर्णित होतीं। प्रथम शंका यह है कि सितारा को शाहू ने राजधानी बनाया था परन्तु भूषण ने सितारा का वर्णन पहले ही राजधानी के रूप में किया है तथा दिल्ली को दुलहिन कहा है और दिल्ली में शाहू से पूर्व मराठों की फौजें नहीं पहुँची थीं, यथा—

दिल्ली दुलहिन भई सहर सितारे की।

तथा भूषण ने इतिहास के विरुद्ध मालवा, उज्जैन, भेलास और सरोज तक शिवाजी की सेनाओं का आक्रमण लिखा है—

मालवा उज्जैन भनि भूषन भेलास ऐन,
सहर सिरोज लौं परावने परत हैं।

इन पर सावधानी से दृष्टिपात करने से बहुत-सी बाते तो स्वयं स्पष्ट हो जाती हैं, यथा—सितारा को राजधानी नहीं लिखा, एक महत्वपूर्ण नगर

अवश्य प्रतीत होता है। शिवाजी ने इसे सन् १६७४ मे जीता था। उन्होंने इसे अवश्य महत्व दिया होगा अन्यथा शाहू जी इसे राजधानी क्यों बनाते। इसी प्रकार दिल्ली को आक्रान्त किया, ऐसा अर्थ उससे नही निकलता। अनेक छन्दों मे दिल्ली की पातशाही का मारना, दिल्ली पर छार का गिरना लिखा है परन्तु इससे दिल्ली पर आक्रमण सिद्ध नही होता वरन् यह तो उसी प्रकार का वर्णन है कि फौजे यहाँ चलती है और सूर्य दूर आकाश मे रुक जाता है, पारावार भी थार पर पारे की भाँति हिलने लगता है। द्वितीय छन्दांश में फौजों का मालवा आदि तक आक्रमण कहाँ लिखा है। 'परावने परत है' से तात्पर्य भगदड़ मच जाने से है।

शिवाबावनी में सोलकी, रुद्रराम, अवधूतसिंह, शंभाजी और शाहूजी का प्रशंसात्मक वर्णन है। ये छन्द अवश्य अखरते है। हो सकता है कि ५२ छन्दों में ये न रहे हों और इनके स्थान पर दूसरे हों तथा बाद में बदल दिए गये हों। यह ग्रन्थ कोई क्रम से तो रचा नहीं गया था, स्फुट छंद सुनाए गए थे और बाद मे वे संग्रहीत कर दिये गए। अतः कुछ उलट-फेर हो जाना सम्भव है।

इसमें शेष छंद शिवाजी के शौर्य-वर्णन से सम्बन्ध रखते हैं। इसमें ओज पराकाष्ठा को पहुँच गया है। वीर रस के अतिरिक्त रौद्र एवं भयानक एवं वीभत्स रसों का बड़ा अनूठा चित्रण हुआ है। भय से भागती शत्रु-स्त्रियों का वर्णन तो अभूतपूर्व है।

छंद केवल तीन ही प्रयुक्त हुए हैं—छप्पय, मनहरण एवं मालती सवैया तथा भाषा ब्रज है जिसमे ओज खुलकर खेला है।

शिवराजभूषण की भाँति इसमें भी दसियों ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन है या संकेत है। अलंकारों की योजना भी बड़े सुन्दर ढंग से हुई है।

छत्रसाल-दशक—इसमे दो दोहे और दस मनहरण है। दोहों में बूँदी नरेश छत्रसाल हाड़ा और महेवा नरेश छत्रसाल बुन्देला का परिचय है, पुनः प्रथम दो मनहरणों मे छत्रसाल हाड़ा का और अन्तिम आठ कवित्तों में छत्रसाल बुन्देला का शौर्य-वर्णन है।

कहते है कि महाराज शिवाजी के यहाँ से जब भूषण महाराज छत्रसाल बुन्देला के यहाँ पहुँचे तो महाराज इनकी कवि-प्रतिभा से बड़े चमत्कृत हुए और इनका बड़ा सत्कार किया। जब भूषण चलने लगे तो स्वयं महाराज ने इनकी पालकी में कंधा लगाया। यह देखकर आशुकवि भूषण ने पालकी से कूदकर वहीं उनकी प्रशंसा में कुछ छंद कहे, उन्हीं का संग्रह यह दशक है। हो सकता

है कि कुछ और भी छंद कहे होंगे परंतु वे उपलब्ध नहीं हैं। ये छन्द सहसा मुँह से निकल जाने के कारण ग्रन्थ रूप में निर्मित नहीं हुए थे। अतः निश्चित है कि इनको ग्रन्थ का रूप तो बाद में दिया गया। यही कारण है कि संकलन-कर्त्ता ने छत्रसाल हाड़ा की प्रशंसा के छन्द भी उसमें जोड़ दिये।

यह दशक वास्तव में अपना सानी नहीं रखता। एक-एक छंद वीर रस का अनुपम उदाहरण है। यदि कहा जाए कि ये दस छंद भूषण की रचना में श्रेष्ठतम छंदों में से हैं, तो अत्युक्ति न होगी।

भूषण की भाषा—भूषण ने ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। मूलतः भूषण की भाषा में पूर्वीपन भी रहा होगा क्योंकि वे कानपुर जिले के निवासी थे परन्तु सम्भवतः भाभी से रुष्ट होकर वे ब्रज में कहीं विद्याध्ययन करते रहे होंगे, उसी के परिणाम स्वरूप उनकी भाषा ब्रज हो गई। इनसे पूर्व ब्रज का प्रयोग सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियों ने तथा तुलसीदास ने एवं रीतिकालीन केशव, मतिराम और बिहारी आदि ने किया था। सूर और तुलसी भक्त कवि थे अतः उनकी भक्तिपरक कविता की भाषा भी शान्त है, जिसमें माधुर्य एवं प्रसाद गुणों की प्रधानता है। भूषण वीर रस के कवि थे अतः उनकी भाषा में ओज का प्राबल्य है और प्राबल्य भी उच्च कोटि का। केशव शब्दों से ही खुलकर खेले हैं, बिहारी का भी यही हाल है। यद्यपि बिहारी केशव की भाँति चमत्कारप्रिय नहीं, परंतु वे शृंगार के कवि हैं अतः उनकी भाषा में भी माधुर्य एवं प्रसाद की ही व्यापकता है। इस प्रकार हम इस परिणाम पर आते हैं कि भूषण से पूर्व जिन कवियों ने ब्रज का प्रयोग किया था, उनका क्षेत्र भिन्न होने से उनकी भाषा की तुलना भूषण की भाषा से नहीं हो सकती। केशव ने अवश्य युद्धवर्णन में ओजपूर्ण भाषा का व्यवहार किया है परन्तु कुछ ही स्थलों पर और उसमें भी पाण्डित्य एवं आलंकारिकता के प्रदर्शन ने नैसर्गिकता को विनष्ट कर दिया है। भूषण के मन और मस्तिष्क पर शिवाजी की नैतिकता, उनके शौर्य और औदार्य ने अपनी छाप लगा दी थी। अतः शिवाजी उनके लिये श्रद्धा के पात्र हो गए थे। यद्यपि वे और भी लग-भग १२-१३ राजा-महाराजाओं के आश्रय में रहे थे परन्तु वहां वे केवल आश्रित ही होकर रहे होंगे। अतः उनकी प्रशंसा के छन्द थोड़े ही मिलते हैं। सम्भवतः भूषण ने उन्हें स्वयं न [illegible] के रत्न न समझा होगा। अतः वे केवल कल्पना की ही वस्तु रह गये। शिवाजी और छत्रसाल उनके आश्रयदाता तो थे परंतु वे उनका राजकवि के समान सम्मान करते थे। वे उनको अपार सम्पत्ति देते थे, याचक समझकर नहीं प्रत्युत् एक दैवी कलाकार को नगण्य पुरस्कार के रूप में। यही कारण है कि भूषण ने इन दोनों के शौर्य-वर्णन में

जो कुछ लिखा, वह हृदय से और इसीलिए उनकी भाषा में इतना ओज, प्रवाह, गठन और दृढ़ता है। वास्तव में इनकी भाषा में वीर रस की जैसी सुन्दर व्यञ्जना हुई है, वैसी अन्यत्र नहीं।

स्थान-स्थान पर भ्रमण करने के कारण इनकी भाषा में बुन्देलखण्डी, मराठी, राजस्थानी एवं अरबी-फारसी के शब्दों को भी हम देखते हैं।

बुन्देलखण्डी शब्द थोड़ी ही मात्रा में आए हैं, यथा—[illegible], धरबी, धौ आदि।

इसी प्रकार मराठी शब्द भी कुछ संख्या में मिलते हैं, जैसे—चिंजी, चिञ्जाउर, माची, भटी, हुन्न, एदिल, सरजा, खुमान और बरगी आदि।

इनकी रचना में कहीं-कहीं राजस्थानी के उन शब्दों का प्रयोग भी दीख पड़ता है, जिनका व्यवहार वीर गाथा काल में हुआ था, यथा—पव्वय, दिल्लिय, झुक्के, तक्कि, किन्निय, खग्ग और पुहुमि आदि। झुक्के शब्द उसी चाल पर बना हुआ है। छेक एवं लाटानुप्रास कैं उदारण स्वरूप जिन अमृतध्वनि छन्दों का प्रयोग किया है, उनमे डिंगल का पूरा प्रभाव है और एक विशेषता भी है कि ऐसे छन्दों मे जहाँ अन्य कवि निरर्थक शब्दों का किसी मन चाहे अर्थ में प्रयोग कर देते थे, भूषण ने एक भी निरर्थक शब्द ऐसे अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया है, यथा—

गतबल खानदलेल हुव खान बहादुर मुद्ध।
सिव सरजा सलहेरि ढिग कुद्धद्धरि किय युद्ध॥
कुद्धद्धरि किय युद्धद्धुव अरि अद्धद्धरि धरि।
मुंडड्डुरि तहँ रुंडड्डुकरत डुंडड्डुग भरि॥
खेदिद्दर वर छेदिद्दय करि मेदद्दधि दल।
जंगग्गति सुनि रंगग्गलि अवरंगग्गत बल॥

अर्थात् सलहेरि के युद्धक्षेत्र में सरजा राजा शिवाजी ने क्रोध को धारण करके युद्ध किया, जिससे दिलेरखाँ गतबल और खान बहादुर किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गया। क्रुद्ध होकर शत्रुओं को आधे-आधे करके (काट काट कर) ऐसा निश्चय कारक युद्ध किया कि वहाँ मुंड कटते हुए रुंड डकराते हैं (बैल की भाँति शब्द करते हैं) और वाहुविहीन कवन्ध डग भरते हैं (दौड़ते हैं)। उन्होंने मोरचे से खेद खेद कर शत्रुओं को छेद डाला और उनकी चर्बी को दही की तरह मथ डाला। युद्ध की ऐसी भयानक स्थिति को सुनकर औरंगजेब का रंग फीका पड़ गया और उसका बल जाता रहा।

इस प्रकार इस छन्द में हमें एक भी शब्द निरभिप्राय नहीं दीखता।

इनकी रचना में अरबी-फारसी के शब्द तो प्रचुर मात्रा में आए हैं, यथा — मुलुक, उजीर, दिल, दरगाह, जहान, गरीबनेवाज, हिम्मत, मिजाज, उमराव, गुसलखाना, नाहक, हमाल, दिवाल, बखतबुलन्द, जरवाफ, खजाने और ख्याल आदि ।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रान्तीय एवं ग्राम्य शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जैसे रेल, बैयर, अकर और ठइ आदि ।

कुछ लोगों का कथन है कि भूषण ने शब्दों को बहुत बिगाड़ा है जैसे आनियतु, मानियतु, जानियतु, नाधियतु, काँधियतु, बाँधियतु, गनाइयतु, गाइयतु, ज्याइयतु, गोतु, उदोतु और होतु आदि । परन्तु उन्होंने रूपों को बिगाड़ा नहीं वरन् आनतु, मानतु आदि के स्थान पर इन रूपों का प्रयोग विशेष मनोहर प्रतीत होता है । और यह उकारान्त-प्रवृत्ति तो ब्रजभाषा का प्राण है ।

कवि ने अपनी भाषा में जो अन्य अनेक भाषाओं के शब्दों का व्यवहार किया है, वे पृथक् से प्रतीत नहीं होते । कुछ शब्द तो तत्सम रूप मे और अधिकांश तद्भव रूप मे गृहीत हुए हैं अतः वे सोने में नगीने की तरह जड़ गए हैं ।

भूषण का ब्रजभाषा पर पूर्ण अधिकार था अतः उन्होंने केवल सुन्दर शब्दावली का ही प्रयोग नहीं किया वरन् अनेक लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग किया है । कुछ लोकोक्तियाँ और मुहावरे नीचे लिखे जाते है—

(१) कालि के जोगी कलींदे के खप्पर
(२) छागौ सहै क्यों गयंद को झप्पर
(३) सौ सौ चूहे खाय कै बिलारी बैठी तप के
(४) तीन बेर खातीं ते वे बीन बेर खाती हैं
(५) थारा पर पारा पारावार यों हलत है
(६) दंत तोरि
(७) ग्रीवा नै जाना
(८) नाक कटि गई
(९) छाती दरकति है
(१०) दिवाल की राह धाना, इत्यादि ।

उपरिलिखित समीक्षा से हमें पता चलता है कि भूषण की भाषा अत्यन्त परिष्कृत और मुहावरेदार है । यदि कहीं शब्दों में बिगाड़ दृष्टिगोचर होता भी है तो नगण्य है । उन्होंने ओज को पूर्णरूप से व्यक्त करने के

लिए शब्दों का सुन्दर सामाञ्जस्य किया है, इसी प्रयत्न के फल-स्वरूप कहीं-कहीं अनुप्रास की बहुलता और भाषा में व्याकरण की दृष्टि से कुछ शिथिलता आ गई है किन्तु वह अखरती नहीं। अतः वह कोई विशेष ध्यान देने की वस्तु नहीं। और फिर जब शौर्य-प्रदर्शन में हथियार बिना नियम घूमता है तो ओजभरी भाषा भला क्यों न घूमे! कवि की भाषा विचलित नहीं होती, उद्गारावेग उसे घुमाता है।

भूषण की शैली—भूषण ने मुक्तक रचनाएँ लिखीं, अतः उनकी रचनाओं में वर्णनात्मक शैली को हम कम ही पाते हैं। यह शैली प्रायः प्रबन्धो में व्यापक रूप से रहती है। शिवराज भूषण में तो प्रारम्भ में कुछ रायगढ़ के वर्णन में यह अवश्य दृष्टिगोचर होती है। अन्यत्र बहुत ही कम और किसी किसी छन्द मे, वह भी वहाँ, जहाँ युद्ध का क्रमिक वर्णन है।

इन्होंने विवेचनात्मक शैली को ही अधिकतर अपनाया है। क्रम से कथा का न होना, भिन्न अलंकार की व्यञ्जना के लिए भिन्न छन्द का प्रयोग, एक छन्द मे भी विविध घटनाओ का संकेत आदि ऐसे कारण हैं कि कवि को विवरण की अपेक्षा विवेचन का ही अधिक आश्रय लेना पड़ा है।

ओजपूर्ण कविता के लिये जैसी शैली, भाषा और भाव-निबन्धन चाहिए, भूषण ने उनकी योजना वैसी ही की है। छन्दो का प्रयोग तदनुकूल ही है।

इस शैली में दैन्य, अनुनय-विनय, चाटुकारिता और अधीनता नहीं है। अतः यह भाटों की शैली से या और अन्य रीतिकालीन कवियों से निपट भिन्न है। कवि अपने प्रिय कवि का शौर्य-वर्णन करता है अतः उसके उद्गार निसर्गज है।

कहीं-कहीं भूषण ने दूसरे कवियों का भाव ग्रहण किया है। प्रथम मतिराम ने 'ललितललाम' में एक स्थान पर लिखा है—

मूँछनि सौं राव मुख लाल रंग देखि मुख,
औरन कौ मूँछन बिना ही स्याम रंग भौ।

भूषण ने भी 'शिवराज भूषण' मे यही भाव यों लिखा है—

तमक ते लाल मुख सिवा को निरखि, भयौ
स्याह मुख औरंग सिपाह मुख पियरे।

इसी प्रकार भूषण से कुछ समय पूर्व हुए जयराम कवि ने 'राधा माधव विलास चम्पू' नामक ग्रन्थ में 'सीसोदिया' वंश की व्युत्पत्ति इस प्रकार लिखी थी—

सीसोदियें कुल सीसो ईस दियो है।

भूषण ने भी 'शिवराज भूषण' में इसे इसी प्रकार लिखा है—

लियो बिरद सीसोदिया, दियो ईस को सीस।

इस प्रकार की भाव-छाया यत्र-तत्र ही गृहीत हुई है अतः मौलिकता ज्यों की त्यों अक्षुण्ण है, उसमे कोई बाधा नहीं है।

भूषण की राष्ट्रीयता—भूषण एक राष्ट्रीय कवि थे। कुछ लोगों का कथन है कि भूषण कट्टर हिंदू थे अतः उनमें धार्मिक विद्वेष अधिक था। शिवराज भूषण के प्रारम्भ में ही उन्होंने क्रमशः गणपति, दुर्गा और सूर्य की स्तुति की है। पुनः शाहू जी के पुत्र शिवाजी को दशरथ के पुत्र राम और वसुदेव के पुत्र गोपाल से उपमा दी है। ग्रन्थ के मध्य में भी हम जहाँ-तहाँ हिंदू-भावना को बिखरा हुआ पाते हैं। एक स्थान पर वे 'मच्छहु कच्छ मैं कोल नृसिंह मैं' इत्यादि कह कर वे शिवाजी के विक्रम की समानता मत्स्य, कच्छप, कोल, नृसिंह, बावन, परशुराम, रामचन्द्र, बलराम, बुद्ध और कलकी अवतारों से बतलाते हैं। एक अन्य स्थल पर 'इंद्र कौ अनुज तै उपेन्द्र अवतार याते' कह कर शिवाजी को विष्णु का अवतार कहते है। एक छन्द में वे शिवाजी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि शिवाजी ने वेद, पुराण, हिन्दुओं की चोटी, जनेऊ, देवालय एवं हिन्दू धर्म की रक्षा की। इस प्रकार उनकी हिन्दू-भावना स्पष्ट परिलक्षित होती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने मुसलमानों के लिये बड़े अपशब्द प्रयुक्त किये हैं, यथा निम्न छन्दांशों में दुर्जन, खल, म्लेच्छ, तुर्क, डाढ़ी के रखैयन आदि शब्द बड़ी घृणा से व्यवहृत किये गए हैं।

दच्छिन के नाथ सिवराज तेरे हाथ चढ़ैं,
धनुष के साथ गढ़ कोट दुर्जन के।

*   *

शिवाजी की धाक मिलैं खल कुल खाक बसे।

*   *

त्यों म्लेच्छ वंश पर सेर शिवराज है।

*   *

हिन्दु कौ दिवाल भयौ काल तुरकन को।

*   *

डाढ़ी के रखैयन की डाढ़ी सी रहति छाती।

भूषण को उनका चोटी न रखना भी अखरा था—

मोटी भई चंडी बिनुचोटी के चबाय सीस।

औरंगजेब को प्रायः चकत्ता या नवरंग लिखते है तथा एक स्थान पर उसे 'कुम्भकर्ण असुर औतारी' भी कहा है और अफ़जल खां को 'दानव आयो दगा करि जावली……' इत्यादि छन्द में उन्होंने दानव कहा है। इसके

अतिरिक्त उन्होंने शिवाबावनी में भयभीत मुसलमानियों का वर्णन भी औचित्य की सीमा से बाहर किया है, जिसमे भूपण की घृणा निरपराध स्त्रियों के प्रति भी इसीलिए अपने प्रचण्ड रूप में दीख पड़ी है कि वे मुसलमानी है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—

लाखन की भीर में सम्हारती न छाती है।

इस प्रकार उन लोगों का कथन है कि भूपण में मुसलमानों के प्रति बड़ा विद्वेप था जो व्यापक अर्थ में उनकी राष्ट्रीयता का विरोधी है।

यदि हम इन आक्षेपो को ध्यान पूर्वक देखे तो ये निराधार दीख पड़ेंगे। ग्रन्थारम्भ मे मंगलाचरण आर्यो की अत्यन्त प्राचीन पद्धति है और वह ग्रन्थ मे 'विघ्ननिवारणार्थ' किया जाता है। भूपण ने भी ऐसा ही किया है। भूषण हिन्दू थे अतः उन्होने हिंदू देवताओं की ही स्तुति की है। राष्ट्रवादिता से यह अभिप्राय नहीं होता कि मनुष्य अपने धर्म, जाति और संस्कृति को भूल जाए। इसी प्रकार शिवाजी को विष्णु का अवतार, इंद्र या राम-कृष्ण के सदृश कह कर उन्होंने अपना श्रद्धाभाव दिखलाया है। क्योंकि भूपण ने अपना आदर्श शिवाजी को बनाया था। इससे उनकी भटैती भी सिद्ध नहीं होती क्योंकि उन्होंने उनके औचित्यपूर्ण शौर्य के अतिरिक्त और किसी प्रकार की अनुचित प्रशंसा नहीं की। शिवाजी वास्तव मे मुसलमानों के लिए इतने पराक्रमी थे जितने राम, कृष्ण और इंद्र। शिवाजी ने चोटी, जनेऊ, देवालय एवं हिन्दू धर्म की रक्षा की ही थी और ठीक ही की थी क्योंकि वे वास्तव में संकट में थे और भूषण ने उन घटित वस्तुओं का वर्णन कर दिया तो क्या आपत्ति है? मुसलमानों के लिये जो कुछ अपशब्द प्रयुक्त किये है वे इसलिए कि औरंगजेब ने हिन्दुओं का जीवन नारकीय बना दिया था। उसने मंदिरों को तोड़ा था, जनेऊ और शास्त्र जलाए थे, सहस्रों हिन्दुओ को बलात् मुसलमान बनाया था, वे हिंदू है अतः उन पर जजिया भी लगाया था, सहस्रों सीता-सावित्रियों की मर्यादा धूल मे मिलादी थी और अनगिनत लोगों को मौत के घाट उतार दिया था और यह सब मुसलमानी फौजों की सहायता से उसने ऐसा किया था। इसलिये शिवाजी उन्हें क्रूरता से दण्ड देते थे। भूषण ने भी उनके विनाश का वर्णन बड़ी प्रखरता से किया है और इसीलिए उनके लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है। भला डंक मारने वाले साँप को कौन गले का हार बनाएगा? कौन है ऐसा जो खाने के लिए मुँह बढ़ाते हुए नृशंस सिंह का मुँह चूमेगा? औरंगजेब और अफलल खाँ आदि के लिए अपशब्दों का प्रयोग भी उनकी क्रूरता के प्रदर्शनार्थ ही है। वास्तव में वे शब्द साभिप्राय है, जिनसे उनकी प्रकृति के विविध रूप व्यञ्जित होते

हैं। त्रस्त स्त्रियों का जो वर्णन है वह तो नैसर्गिक है, भय में ऐसा ही होता है और वह काव्य ही क्या जिसमें नैसर्गिकता न हो।

भूषण मुसलमान जाति से घृणा नहीं करते थे। वे तो जहाँदाराशाह, आदिलशाह और कुतुबशाह के दरबार में भी रहे थे। वे सदैव हिंदू मुसलमानों में ऐक्य चाहते थे। उन्होंने सदैव शिवाजी से मेल करने के लिए लिखा है, न कि उनकी अधीनता स्वीकार करने के लिए—

छूटि गयो तो गयो परनालो, सलाह की राह गहौ सरजा सौं।

*　　　　　　*

और करो किन कोटिक रहे, सलाह बिना बचिहौ न सिवा सौं।

सभी इतिहासकार लिखते हैं कि शिवाजी मुसलमान स्त्रियों और कुरान का अत्यधिक आदर करते थे। यदि किसी प्रकार वे हिंदुओं के हाथ लग जाते थे तो उन्हें सादर वापस भेज देते थे। भला फिर भूषण ऐसा क्यों न करते। उन्होंने स्त्रियों, कुरान एवं मस्जिद की बुराई कहीं नहीं की। भूषण ने औरंगजेब के अतिरिक्त उसके सभी पूर्वजों की बड़ी प्रशंसा की है—

आदि को न जानो देवी-देवता न मानो साँच,
　　कहूँ सो पिछानो बात कहत हौं अब की।
बब्बर अकब्बर हुमाऊँ हद्द बाँध गये,
　　दो मैं एक करी ना कुरान वेद ढब की।
और पातसाहन में हुती चाह हिन्दुन की,
　　जहाँगीर साहजहाँ साख पूरे तब की।
कासिहु की कला जाती मथुरा मसीद होती,
　　सिवाजी न होतो तो सुनति होती सबकी॥

इससे स्पष्ट है कि भूषण मुसलमानों के विरोधी नहीं थे वरन् उस औरंगजेब के विरोधी थे, जिसने अपने पूर्वजों के बनाये हुए सुन्दर मार्ग को छोड़ कर हिन्दुओं पर आपत्तियों के पहाड़ ढहा दिये थे। इसीलिए उन्होंने उसकी बुराई की है और उसी के नाते उसकी फौजों की तथा उन अन्य सरदारों की भी जिन्होंने अपनी हिन्दू प्रजा को सताया, जो राजनीति के विरुद्ध था।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम साहसपूर्वक कह सकते हैं कि भूषण जाति-विद्वेष के शिकार नहीं थे वरन् एक सच्चे राष्ट्रभक्त थे। आततायी की कलई खोलना और उसे समुचित दण्ड दिलाना प्रत्येक राष्ट्र-भक्त का कर्त्तव्य है और भूषण ने वही किया।

देव

देव कवि के जीवन, ग्रन्थ एवं काव्य को लेकर हिन्दी-क्षेत्र में बड़ा विवाद रहा है। शिवसिंह सेंगर ने शिवसिंह सरोज मे चार देव कवियों का उल्लेख किया है। एक तो हमारे वर्ण्य प्रसिद्ध कवि देव हैं और इनके अतिरिक्त तीन देव और है। इनमे प्रथम काशी के महाराज ईश्वरी नारायण सिंह के श्रद्धापात्र देव काष्ठजिह्वा हैं, जिन्होने विनयामृत, रामलगन, रामायण-परिचर्या, वैराग्य-प्रदीप और पदावली नामक पुस्तकें लिखीं। दूसरे देव या देवदत्त का जन्म सं० १७५२ है, इन्होने योगतत्व की रचना की। मिश्रबन्धुओं नें इनका रचनाकाल सं० १७३० के आसपास माना है। तृतीय देव या देवदत्त का जन्म सं० १७०५ में हुआ और उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है ललित-काव्य। अन्तिम दोनो देव हमारे प्रसिद्ध कवि देव के समकालीन थे।

मिश्रबधुओं ने अपने विनोद मे दो और देव कवियों का उल्लेख किया है। एक तो अमीरखाँ के आश्रित थे, जिनका रचना काल सं० १७९७ के लगभग है और जिनका एक रागमाला नाम का ग्रन्थ मिला है। दूसरे देवदत्त कवि हैं जो काश्मीर नरेश ब्रजराज के आश्रय में रहते थे। इन्होंने सं० १८१८ के लगभग द्रोणपर्व नामक ग्रन्थ का निर्माण किया। ये दोनो देव भी प्रसिद्ध कवि देव के अन्तिम काल में विद्यमान थे।

उपर्युक्त कवि देव के समकालीन अवश्य थे परन्तु उनकी रचना में और देव की रचना मे बड़ा अन्तर है अत: इनकी रचनाओं के पारस्परिक घालमेल की आशंका नहीं।

प्रसिद्ध कवि देव का पूरा नाम देवदत्त था। अपने ग्रन्थों के परिच्छेद के अन्त में उन्होंने सर्वत्र अपना नाम देवदत्त ही लिखा है। देव तो उनका उपनाम था।

देव का जीवन-वृत्त—शिवसिंह सेंगर ने इनका जन्म काल सं० १६६१ माना है जो नितान्त अशुद्ध है क्योंकि भाव-विलास के अन्त में उन्होंने अपना जन्म काल सं० १७३० लिखा है—

शुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरहिं वर्ष।
कढ़ी देव मुख देवता, भाव विलास सहर्ष॥

भावविलास की रचना के समय सं० १७४६ था और उनकी अवस्था १६ वर्ष थी अतः उनका जन्म सं० १७३० में हुआ था। देव ने भाव-विलास मे अपने को इटावा निवासी द्यौसरिया ब्राह्मण लिखा है—

द्यौसरिया कवि देव को, नगर इटायो वास।
जोबन नवल सुभाव रस, कीन्हों भावविलास॥

अतः ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। मिश्रबंधुओं ने द्यौसरिया को धौसरिया पढ़कर देव को सनाढ्य ब्राह्मण लिखा है। बाबू श्याम सुन्दरदास और पं० रामचंद्र शुक्ल ने भी इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण माना है। परंतु वास्तव में ये कान्यकुब्ज थे। डा० नगेन्द्र ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'देव और उनकी कविता' में लिखा है कि द्यौसरिया शब्द दुसरिहा का रूपान्तर है, जो 'देवसर' या 'देवसरिया' मे 'हा' प्रत्यय लगने से बना है, जिसका सामूहिक अर्थ है देवतुल्य। इटावे में अनेक दुसरिहा ब्राह्मण रहते हैं, जो द्विवेदी कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं।

देव के प्रपौत्र भोगी लाल ने स्पष्ट ही उनको कान्यकुब्ज ब्राह्मण और कश्यप गोत्री लिखा है—

कस्यप गोत्र द्विवेदी कुल, कान्यकुब्ज कमनीय।
देवदत्त कवि जगत में, भये देव रमनीय॥

उपरिलिखित भावविलास के दोहों में देव ने अपना स्थान इटावा लिखा है। भावविलास की रचना के समय इनकी अवस्था सोलह वर्ष की थी। इससे सिद्ध होता है कि भावविलास की रचना तक तो ये इटावा में अवश्य ही रहते थे। कवि के वंशजों का कथन है कि वे २९ वर्ष की अवस्था में इटावा से कुसमरा चले गये थे। भावविलास की रचना के उपरान्त वे दिल्ली नरेश आजमशाह के यहाँ गये, तदुपरांत चर्खीदादरी में रहे और पुनः कुछ दिन इटावे में रहकर कुसमरा मे जा बसे।

इनके कौटुम्बिक जनों का कोई विवरण नही मिलता। देव के सम्बन्ध में खोज करते हुए डा० नगेन्द्र को देव के वंशज पं० मातादीन से उनका वंश-वृक्ष मिला था, जो इस प्रकार छंद-बद्ध है—

दुबे बिहारीलाल भये निज कुल महँ दीपक।
तिनके मे कवि देव कविन महँ अनुपम रोचक॥
पुरुषोत्तम के छत्रपती बाबा-कृत लेखक।
भये खुलासीचन्द पुत्र बुधिसेनहु जी तक॥
जिनके राजाराम सुत पितु हमरे मतिमान।
ता सुत मातादीन यह, दास रावरो जान॥

इस वृक्ष के अनुसार देव के पिता बिहारीलाल दुबे थे और पुत्र पुरुषोत्तम। पं० मातादीन को यह तालिका अपने पितामह बुद्धसेन से प्राप्त हुई थी

और बुद्धसेन से केवल ३५, ३६ वर्ष पूर्व ही देव का देहावसान हुआ था। अतः इसके सत्य होने मे कोई सन्देह नही।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने सुन्दरी-सिन्दूर का सम्पादन करते हुए उसके मुखपृष्ठ पर लिखा है—

'राधाचरण-सरोज-राजहंस गोस्वामी हितहरिवंश हित जी के द्वादश मुख्य शिष्यों के अन्तर्गत श्री स्वामिनी जी के अनन्य उपासक कवि-शिरोमणि मान्यवर श्री देव कवि रचित...।'

इससे देव का गोस्वामी हितहरिवंश का शिष्य एवं उनको राधावल्लभीय सम्प्रदाय का अनुयायी होना सिद्ध होता है परन्तु हितहरिवंश का समय विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक माना जाता है और देव का जन्म सं० १७३० में हुआ। अतः वे उनके शिष्य कदापि नहीं हो सकते। राधाबल्लभीय सम्प्रदाय के अनुयायी होने का संकेत भी उनके ग्रन्थों से नहीं मिलता। यद्यपि उनके सभी ग्रंथों में राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं का वर्णन है तथापि इस विषय में हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता।

देव के निधन-काल के विषय में भी कोई निश्चित प्रमाण नहीं। उनके अन्तिम आश्रयदाता पिहानी के अधिपति अकबर अलीखाँ थे, जिनका समय सं० १८२४ से प्रारम्भ होता है। देव ने अपना अन्तिम ग्रंथ 'सुखसागर तरंग' इन्हीं को समर्पित किया है। इसके पश्चात् उन्होंने कोई ग्रंथ नही लिखा। अतः प्रतीत होता है कि ये सं० १८२४ के पश्चात् अधिक जीवित नही रहे।

देव के आश्रयदाता—देव के सर्वप्रथम आश्रयदाता दिल्लीपति आजमशाह थे, जिनके दरबार में वे अपनी सर्वप्रथम रचना भावविलास और अष्टयाम लेकर पहुँचे थे। सं० १७४६ मे जब इनका भावविलास समाप्त हुआ था तब आजमशाह अपने पिता औरंगजेब के साथ दक्षिण मे युद्धार्थ गए हुए थे। सम्भवतः वहाँ से किसी समय वे आए होंगे और देव से साक्षात्कार हुआ होगा। उस समय देव ने उन्हें अपने ग्रंथ दिखाये और वे सुनकर बड़े प्रसन्न हुए।

इनके दूसरे आश्रयदाता साँवलसिंह के पुत्र चर्खीदादरी के राजा सीताराम के भतीजे भवानीदत्त वैश्य थे। देव ने अपना 'भवानी विलास' नामक ग्रन्थ इन्हीं को समर्पित किया है।

इसके पश्चात् वे फफूँद के राजा कुशलसिंह के यहाँ गये। वहाँ रहकर उन्होंनें कुशलसिंह के नाम पर 'कुशलविलास' की रचना की।

अब तक जितनें भी आश्रयदाता देव को मिले, वे स्थायी रूप से देव को अपने आश्रय में न रख सके। आजमशाह प्रायः दक्षिण में रहे और भवानीदत्त

एवं कुशलसिंह की स्थिति विशेष अच्छी नहीं थी। यह भी हो सकता है कि उन्होंने देव को समुचित आश्रय न दिया हो और कवि को उनके यहाँ से जाना पड़ा हो। देव की आयु इस समय लगभग तीस वर्ष की थी। इस अवस्था से लेकर लगभग तेतालीस वर्ष की अवस्था तक वे योग्य एवं गुणज्ञ आश्रयदाता की खोज में इधर-उधर घूमते रहे, अंत में सं० १७८३ में राजा भोगीलाल से इनकी भेंट हुई। ये कहीं के राजा नहीं थे वरन् यह इनकी उपाधि थी। 'रसविलास' इन्हीं के लिए बनाया गया। इनके यहाँ इन्होंने पर्याप्त सम्मान पाया। देव ने इनकी बड़ी प्रशंसा की है। परंतु यहाँ भी वे अधिक न ठहर सके। इसका कारण भोगीलाल की उदासीनता नहीं वरन् असमर्थता थी, क्योंकि वे अधिक सम्पत्तिशाली नहीं थे।

इसके अनन्तर वे इटावा के समीप ड्योंड़ियाखेरा के भूपति उद्योतसिंह के आश्रय में रहे। उनके लिए इन्होंने 'प्रेमचन्द्रिका' की रचना की। पुनः दिल्ली के एक प्रतिष्ठित रईस सुजानमणि के आश्रय में रहकर इन्होंने 'सुजानविनोद' लिखा।

देव के अंतिम आश्रयदाता पिहानी नरेश अकबरअलीखाँ थे। अकबर-अलीखां का समय सं० १८२४ से प्रारम्भ होता है। देव ने अपना अंतिम संग्रह-ग्रन्थ 'सुखसागर तरंग' इन्हीं को समर्पित किया है। इसके पश्चात् का इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता। अतः इसके अनंतर ही इनकी दैहिक यात्रा भी समाप्त हुई जान पड़ती है।

देव की रचनाएँ—ठाकुर शिवसिंह ने देव के ग्रन्थों की संख्या ७२ लिखी है परन्तु उन्होंने इनका आधार नहीं लिखा। मिश्रबन्धुओं ने यह संख्या ५२ बतलाई है। परंतु खोज के उपरांत आज तक निम्न १८ ग्रंथ ही मिल सके हैं—

प्रकाशित

१ भावविलास
२ अष्टयाम
३ भवानी विलास
४ प्रेमतरंग
५ कुशल विलास
६ जाति विलास
७ रस विलास
८ प्रेम चन्द्रिका
९ सुजान विनोद
१० राग रत्नाकर
११ शब्द रसायन
१२ देवचरित्र
१३ देवमाया प्रपंच
१४ जगद्दर्शन-पचीसी
१५ आत्मदर्शन पचीसी
१६ तत्वदर्शन-पचीसी
१७ प्रेमपचीसी
१८ सुखसागरतरंग

इसके अतिरिक्त इनके निम्न ९ ग्रन्थों के नाम और मिलते हैं—

१ रसानंद लहरी	६ कक्ष विलास
२ प्रेम दीपिका	७ नखशिख प्रेम प्रदर्शन
३ सुमिलविनोद	८ नीति शतक
४ राधिका विलास	९ वैद्यक ग्रंथ
५ पावस विलास	

परन्तु ये अभी तक उपलब्ध नहीं हैं।

अब उपर्युक्त प्राप्त ग्रंथों पर तनिक प्रकाश डालना उपयुक्त होगा, जिससे हम उनकी काव्य-प्रवृत्ति को समझ सकें।

भाव विलास—यह कवि की सर्वप्रथम रचना है, जिसे उसने सोलह वर्ष की अवस्था में अष्टयाम के साथ औरंगजेब के पुत्र आजमशाह को सुनाया था और जिसे सुनकर आजमशाह अत्यन्त प्रसन्न हुआ था। अष्टयाम के छंदों में इससे अधिक पुष्टता होते हुए भी यह ग्रंथ निश्चित रूप से अष्टयाम से पहले निर्मित हुआ था क्योंकि यह रीतिग्रंथ है, जिसमें शृंगार के अंग-प्रत्यंगों का सविस्तार वर्णन है और अष्टयाम इसके विस्तार के रूप में दीख पड़ता है।

इस ग्रंथ की रचना बड़ी प्रौढ़ है, जब कि इसके पश्चात् निर्मित हुए अष्टयाम, भवानी विलास और जाति विलास इतने प्रौढ़ नहीं हैं। इससे एक शंका उत्पन्न होती है कि सोलह वर्ष के एक किशोर कवि ने इतनी उच्च रचना कैसे की जब कि इसके बाद की रचनाएँ इससे निम्न स्तर की हैं। इसका उत्तर यही हो सकता है कि ग्रंथ तो स्वयं कवि के अनुसार पहले ही बना था, परन्तु सम्भवतः बाद में देव ने स्वयं कुछ प्रौढ़ अंश अन्य ग्रंथों से इस ग्रंथ में बदल दिये।

इस ग्रंथ में केवल शृंगार रस का सांगोपांग वर्णन है, जिसका आधार भानुदत्त की रस-तरंगिणी है। तीन विलासों में रस के भेद-विभेदों का वर्णन है। चतुर्थ विलास में नायिका भेद और पञ्चम में अलंकार हैं। अलंकार ३९ माने है, जिनका आधार केशव की कविप्रिया है।

अष्टयाम—अष्टयाम देव का दूसरा ग्रन्थ है, जिसकी रचना सं० १७४६ में ही हुई होगी क्योंकि इसी वर्ष कवि ने भाव विलास के साथ इसे आजमशाह को सुनाया था। यह रचना अत्यन्त निम्न कोटि की है। इसमें स्वयं देव के कथनानुसार नायक-नायिका के आठ पहर के विविध विलास का

वर्णन है। यह संयोग शृंगार का ग्रन्थ है, जिसमें भाव अवश्य सरस हैं परन्तु काव्य-सौन्दर्य नहीं।

भवानी-विलास यह ग्रन्थ कवि ने दादरी के राजा सीताराम के भतीजे भवानीदत्त के नाम पर रचा था। राजा सीताराम का राज्यकाल सं० १७५० से १८०० तक है। इनके राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षो में ही इसका निर्माण हुआ था क्योंकि कवि ने स्वयं राजा सीताराम की प्रशंसा की है और वे ६-१० वर्ष से अधिक उनके यहाँ नही रहे। अतः इसकी रचना सं० १७५० और १७६० के बीच हुई होगी।

इस ग्रन्थ के प्रथम विलास में शृंगार रस का सांगोपांग वर्णन है। पुनः दूसरे से सातवें विलास तक नायिका के भेदोपभेदों का वर्णन है। और अंतिम आठवें विलास में शृंगार के अतिरिक्त अन्य आठों रसों का वर्णन है। यह ग्रंथ भावविलास की अपेक्षा निम्न कोटि का है। इसमें उतना काव्य-सौन्दर्य नही क्योंकि भावविलास मे कवि ने लक्षणों को विशेष महत्व दिया था जब कि इस ग्रंथ मे उदाहरणों ने लक्षणो का महत्व दबा दिया है और न वैसा भाव-सौन्दर्य है, हाँ, शब्दों का खचन अवश्य उत्कृष्ट रूप में दीख पड़ता है।

प्रेम-तरंग—यह ग्रंथ भवानी-विलास के शीघ्र पश्चात् का लिखा ज्ञात होता है क्योंकि इसमें जो मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के अंश-भेद दिये हुए हैं वे भवानी-विलास से मिलते हैं। इसका वर्ण्य विषय कुशल-विलास से अधिक साम्य रखता है और कुशल-विलास का रचना-काल सं० १७६० है। अतः इसका रचना-काल भी यही होगा। इस ग्रंथ में नायिकाओं के जो लक्षण दिये है वे भवानी-विलास से भिन्न नहीं परन्तु उदाहरण नितान्त नवीन हैं। यह कवि की ऐसी रचना है जिसे न हम अति निम्न कोटि की कह सकते हैं और न उत्तम कोटि की। यह ग्रंथ पूरा नहीं मिलता।

कुशल-विलास—यह ग्रंथ फफूँद के राजा कुशलसिंह के आश्रय में लिखा गया था। इसमें कुछ लक्षण और उदाहरणों को छोड़कर प्रेम-तरंग की सारी सामग्री संग्रहीत है। अतः इसका रचनाकाल भी सं० १७६० ही होना चाहिए। इसमे नौ विलास हैं जिनमें से प्रथम में शृंगार रस के अंगों का वर्णन है, दूसरे से पाँचवें तक नायिका के विविध भेदों और छठे, सातवें और आठवे विलासों में क्रमशः मुग्धा के साथ दस काम-दशाओं का, मध्या के साथ आठ अवस्थाओं का और प्रौढ़ा के साथ दस दावों का वर्णन है और नवें विलास में पुनः नायिका के कुछ भेदों का विवेचन है। यह ग्रंथ भी प्रेम-तरंग की कोटि का है।

जाति-विलास— देव सं० १७६५ के आस पास राजा कुशलसिंह का आश्रय छोडकर देश-भ्रमण के लिये निकले और १०-१५ वर्ष तक भिन्न भिन्न प्रांतों एव नगरो मे घूमते रहे। इस भ्रमण मे उन्होने अनेक देशों में जो स्त्री-सौन्दर्य देखा, उसी के आधार पर

रस-विलास—स्वयं देव के अनुसार इस ग्रंथ की रचना स० १७८३ में हुई। यह राजा भोगीलाल के आश्रय में लिखा गया था। यह ग्रंथ शृंगार का है, जिसमें नायिका-भेद वर्णित है। सर्व प्रथम इसमें स्त्री की प्रशंसा की गई है, पुनः उसके कुछ भेद हैं, तत्पश्चात् उसके नखशिख (अष्टागों) का वर्णन है। तदनन्तर जाति, गुण-कर्म और देश, काल, वय, प्रकृति और सत्व के अनुसार उसके भेद किये गए है। अंतिम सप्तम विलास में संयोग के अंतर्गत दस हावों और वियोग के अंतर्गत दस काम-दशाओ का वर्णन है। इसमे नारी के सैकड़ों ही भेद और उसके हाव-भाव लिखे हुए हैं। यह ग्रंथ बहुत कुछ मँजी हुई शैली से निर्मित हुआ है। इसमे अधिकांश छंद भवानी-विलास और जाति-विलास से उद्धृत हुए हैं।

प्रेमचन्द्रिका—इस ग्रंथ की रचना डोडिया खेरा के राजा उद्योतसिंह के आश्रय मे हुई और उनका समय विक्रम की १८ वीं शताब्दी का अतिम चरण है। अतः इसकी रचना सं० १७९० के आस-पास हुई। यह ग्रंथ निश्चित ही प्रेमचन्द्रिका के पश्चात् और सुजान-विनोद से पूर्व लिखा गया क्योंकि इसमें प्रेमचन्द्रिका की अपेक्षा भाव-सूक्ष्मता अधिक है तथा कवि ने वर्णनात्मक शैली को त्याग कर व्यञ्जनात्मक शैली को अपनाया है। इसमें प्रेम का उज्जवल रूप दीख पड़ता है और प्रेम का जो वर्णन है वही सुजान-विनोद मे भी है। प्रेम और विषय का अन्तर भी बतलाया है, वही अन्तर कुछ अधिक रूप मे सुजानविनोद में भी है। अधिकता ही यह बतलाती है कि सुजानविनोद इसके बाद की कृति है।

देव का यह ग्रंथ काव्य की दृष्टि से बड़ा श्रेष्ठ है। इसकी सरसता कवि के हार्दिक अनुराग की उद्घोषिका है। कवि कितना सरस है, सहृदय है, वह इस विषय मे कितना तल्लीन है, वह नारी-जगत् के वास्तविक सौंदर्य से कितना परिचित है आदि बातें हमें इससे सहज ही ज्ञात हो जाती हैं। कवि प्रेम-जगत के उज्ज्वल वातावरण में विचरता-सा दीखता है। उसे विषय प्रेम से हीन जान पड़ता है अतः उसने विषय का तिरस्कार किया है। इसमें चार प्रकाश हैं। प्रथम प्रकाश में प्रेम का स्वरूप बतलाते हुए प्रेम का माहात्म्य बतलाया है, दूसरे में प्रेम के अनुराग, शृंगार, सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और

कार्पण्य नाम से पांच भेद किये हैं और तृतीय प्रकाश तक मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा नायिकाओं के शृंगार का चित्रण किया है। चतुर्थ प्रकाश में शेष प्रेम के चारों भेदों का वर्णन है।

सुजान-विनोद—इसकी रचना दिल्ली के रईस सुजानसिंह के विनोद के लिए हुई थी, नकि सुजान या सहृदय व्यक्तियों के लिए जैसा कि मिश्रबन्धुओं ने लिखा है। यह निश्चित ही प्रेमचन्द्रिका के पश्चात् निर्मित हुआ क्योंकि इसमे प्रेम का जो वर्णन है वह प्रेमचन्द्रिका से लिया हुआ है। अतः इसका रचना-काल सं० १८०० के आसपास का जान पड़ता है।

इस ग्रंथ में ऋतुओं के अनुसार नायिका-भेद वर्णित है। इसके सात विलासों मे से प्रथम में प्रेम का वर्णन है, जिसको प्रेमचन्द्रिका से ज्यों का त्यों लिख दिया गया है। देव ने शिशिर और बसंत में विनोद की साधिका मुग्धा, ग्रीष्म और वर्षा मे मध्या और शरद् एवं हेमंत में प्रौढ़ा मानी है। अतः उन्होंने इसी क्रम से प्रथम, द्वितीय और तृतीय विलास मे मुग्धा के भेद और उसकी विविध चेष्टाओं का, चतुर्थ मे मध्या की आठ अवस्थाओं का तथा पंचम में प्रौढ़ा के हाव-भावों का वर्णन किया है। अन्तिम दो विलासों मे ऋतु-वर्णन है। इन दो विलासों में मौलिकता अधिक है क्योंकि इनसे पूर्व भवानीविलास और रसविलास से पर्याप्त सामग्री ली गई है।

यह कृति भी प्रेमचन्द्रिका की भांति बड़ी प्रौढ़ है, इसमें रस का परिपाक जैसा हुआ है, वैसा प्रेमचन्द्रिका के अतिरिक्त और ग्रन्थों में नहीं हुआ। इसमें भी भाव-सूक्ष्मता और भावाभिव्यञ्जकता को प्रमुख स्थान मिला है।

राग-रत्नाकर—यह संगीत का ग्रंथ है। इसके प्रथम अध्याय में छः राग एवं उनकी रागिनियों का सविस्तर और दूसरे मे तेरह उपरागों का सूक्ष्मतः वर्णन है। इस ग्रंथ के पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि यह ग्रंथ संगीत की दृष्टि से बड़ा महत्व रखता है। देव काव्य के ज्ञाता तो थे ही, संगीत के भी विशारद थे, यह बात इससे भली भाँति ज्ञात होती है।

शब्द-रसायन—यह ग्रंथ किसी को भी समर्पित नहीं है। अतः ज्ञात होता है कि यह किसी के आश्रय में न रह कर स्वतंत्र रूप से लिखा गया होगा। यह ग्रन्थ कवि की सर्वांगपूर्ण और प्रौढ़तम रचना है। इसके पश्चात् उनकी वैराग्य सम्बन्धी रचनाएँ मिलती हैं। अतः इसका निर्माण लक्षण-ग्रन्थों के पश्चात् और जगद्दर्शनपचीसी आदि वैराग्य के ग्रन्थों से पूर्व हुआ होगा। सुजानविनोद के पश्चात् इसकी रचना मानकर इसका निर्माण-काल सं० १८०० के कुछ ही अनन्तर माना जा सकता है।

देव के ग्रंथों में यही एक रीति-ग्रंथ ऐसा है जिसे हम सर्वांगपूर्ण कह सकते हैं। भावविलास में केवल शृंगार रस का और ३९ अलंकारों का वर्णन है परंतु इसमें काव्य का स्वरूप, सभी रस, रीति, वृत्ति तथा अलंकार और छन्दों का सविस्तर वर्णन है। इस ग्रन्थ में ग्यारह प्रकाश हैं, जिनमें से प्रथम में काव्य के स्वरूप एवं शब्द-शक्तियों का पूर्ण विवेचन है, दूसरे में तीनों वृत्तियों के भेद और तीसरे से लेकर छठवें तक सभी रसों का निरूपण है। छठवें प्रकाश में सूक्ष्मतः नायिका भेद भी अंकित किया गया है। रस का विवेचन भाव-विलास और भवानी-विलास के ही आधार पर हुआ है। सातवें प्रकाश में रीति का वर्णन है। रीति से तात्पर्य गुण लिया गया है। आठवें प्रकाश में चित्रकाव्य का निरूपण करते हुए उसे अधम काव्य कहा गया है। नवें प्रकाश में अर्थालंकारों का विवेचन है। देव ने इस ग्रंथ में चालीस मुख्य और तीस गौण अलंकार माने हैं। अन्तिम दो प्रकाशों में छंदों का निरूपण है, जिसमें लक्षण और उदाहरण एक ही छंद में दिये हुए हैं।

इस विवेचन से प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ वास्तव में शब्द-रसायन ही है। इतना प्रौढ और पूर्ण दूसरा ग्रंथ नहीं। परंतु एक दोष भी है और वह यह कि शब्द-शक्ति, रीति एवं अलंकारों के लक्षणों में स्पष्टता नहीं आने पाई है। अनेक लक्षण गुत्थी बन गए हैं। रस का निरूपण अच्छा हुआ है।

देव-चरित्र—यह ग्रन्थ देव का सर्वप्रथम भक्तिपरक ग्रंथ है। इस समय तक देव अधिक वृद्ध हो गये थे। अतः उनकी रागात्मिका वृत्ति भक्ति में परिवर्तित हो गई। जिन राधा-कृष्ण को नायक और नायिका के रूप में वर्णित किया था, वे ही अब इनके आराध्य हो गए। यह ग्रंथ एक खण्ड-काव्य है जिसमें कृष्ण-जन्म से लेकर उनके जीवन की अनेक घटनाओं का उल्लेख करते हुए महाभारत के अंत में उनके वैभव का वर्णन है। ग्रन्थ केवल १५० छंदों में समाप्त हुआ है अतः कथा-सूत्र ठीक ठीक बँध नहीं सका है।

देव-मायाप्रपंच—पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसे अपनी सूची में परिगणित नहीं किया है परन्तु इसके देवकृत होने में कोई संदेह नहीं क्योंकि कवि ने इसके अंत में स्पष्ट ही अपना नाम दिया है तथा इसके कुछ छंद जगद्दर्शन-पचीसी में उद्धृत हैं।

यह एक नाटक है जो छः अंकों में समाप्त हुआ है और प्रबन्ध चन्द्रोदय की प्रतीकात्मक शैली पर लिखा गया है। इसका नायक परं पुरुष है। इसमें सभी पात्र मन, माया आदि अलक्ष्य जगत् से सम्बन्ध रखने वाले हैं।

इसमें कथा का विकास इतना सुन्दर तो नहीं है परन्तु स्पष्ट है। माया-प्रपंच का वैभव इसमें बड़ी सजगता से वर्णित है।

जगद्दर्शन पचीसी—पहले कहा जा चुका है कि कवि वृद्धावस्था तक पहुँचते-पहुँचते विरागी हो गया था। उसका मन संसार-यात्रा से थक चुका था और अब वह उस विराट् की क्रोड में शांति पाना चाहता था, जिसमें चराचर जगत् समाया हुआ है। उसे विश्व-माया का सच्चा स्वरूप दीख चुका था और अब वह उसके पाश में से निकलना चाहता था। इसीलिए उसके शब्दों में अब गम्भीरता आ गई थी, स्वभावोक्ति उद्‌गारों का माध्यम हो गई थी। लौकिक राग का स्थान विराग ने ले लिया था और कवि भक्त हो गया था। अतः उसने जो कुछ लिखा वह वैराग्य-परक ही लिखा। यह एवं अन्य पचीसी इसी का परिणाम हैं। इसमें जीवन की नश्वरता और जगत् की निस्सारता बतलाई है।

आत्मदर्शन-पचीसी—इस ग्रन्थ में संसार मे भ्रम को प्राप्त जीव के मन को भर्त्सित किया गया है।

तत्वदर्शन-पचीसी—इसमे ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है।

प्रेम-पचीसी—इसमें प्रेम का वर्णन है। प्रेम को संसार का सार और ब्रह्म-प्राप्ति का परम साधन माना है।

सुखसागर-तरंग—यह ग्रंथ पिहानी नरेश अकबर अली खाँ के आश्रय मे लिखा गया था क्योंकि कवि ने स्वयं उसके लिए इसका लिखा जाना कहा है। अकबर अली खाँ का समय सं० १८२४ से प्रारम्भ होता है। अतः इसकी रचना भी सं० १८२३ या १८२४ मे हुई होगी। वास्तव में यह कोई मौलिक ग्रंथ नहीं है। इसमें मुख्यतः अष्टयाम, भवानीविलास, कुशलविलास, रसविलास और सुजानविनोद के छंद उद्धृत है। कुछ छंद भावविलास और प्रेमचन्द्रिका के भी है। इनके अतिरिक्त लगभग २०० छंद और हैं जो मौलिक से प्रतीत होते हैं परन्तु सम्भवतः वे देवकृत उन ग्रन्थों के हैं जो अप्राप्य हैं क्योंकि ९४ वर्ष की घोर वृद्धावस्था में इससे पूर्व कई वैराग्य के ग्रन्थ रचने के पश्चात् उनसे शृंगारिक छन्दों की आशा करना उचित प्रतीत नहीं होता। वास्तव में कवि ने अपने अंतिम समय में अपने अन्तिम आश्रयदाता को अपने पूर्व ग्रन्थों का संग्रह ही भेंट किया।

इसमें बारह अध्याय और ८५६ छन्द हैं, जिनमे शृंगार का नायिकाभेद सहित सांगोपाँग वर्णन है। यह ग्रंथ एक संग्रह-ग्रंथ है। अतः इसका स्वतन्त्र रूप से कोई विशेष मूल्य नहीं।

यदि हम देव की उपर्युक्त रचनाओं पर दृष्टिपात करें तो हमें प्रतीत होगा कि ये सभी तीन वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं; एक तो वह जो

शृंगारिक भावना से ओतप्रोत है, दूसरा वह जिसमें रीति-ग्रंथ है और तीसरा वह जो दार्शनिक विचारों से पूर्ण है। प्रथम वर्ग में अष्टयाम, जातिविलास, रसविलास और सुजानविनोद आते हैं, द्वितीय में भावविलास, भवानीविलास और शब्द-रसायन तथा तृतीय में देव-चरित्र, देवमायाप्रपञ्च, जगद्दर्शन-पचीसी, आत्मदर्शन-पचीसी, तत्वदर्शन-पचीसी और प्रेमपचीसी हैं। प्रेम-तरंग में प्रायः लक्षण भवानी-विलास से भिन्न नहीं, कुशलविलास में बहुधा प्रेम-तरंग की ही सामग्री संग्रहीत है, प्रेमचन्द्रिका राग और विराग की मध्यवर्ती भावना का ग्रंथ है। रागरत्नाकर संगीत का और सुखसागर-तरंग एक संग्रह है। अतः ये पाँचों ग्रंथ हमने विभाजन में परिगणित नहीं किये हैं।

देव का शृंगार और प्रेम—देव वास्तव में शृंगार के कवि थे। उन्होंने नव-रस का विधान करते हुए भी प्रधानतः शृंगार, वीर और शान्त तीन ही रस माने है और अन्त में शृंगार को ही मूल रस ठहराया है क्योंकि शृंगारिक भावना के उत्साह से ही वीर की और उसी की असफलताजन्य भावना से शान्त की अभिव्यक्ति होती है।

देव ने शृंगार का जैसा चित्रण किया है, रीतिकालीन कोई दूसरा कवि वैसा नही कर सका है। वे काम को परमधाम से भी श्रेष्ठ इसलिए मानते थे कि निखिल चराचर इसके वशीभूत है परन्तु वासना-निहित काम से प्रेम को उन्होंने कहीं उच्च स्थान दिया है। अतः वे शृंगार का मूल प्रेम ही मानते है। उनकी रचनाओं मे इसलिये स्वकीया नायिका सर्वश्रेष्ठ मानी गई है कि उसमें रति का उज्जवल रूप दृष्टिगोचर होता है। परकीया एवं वारांगना का प्रेम प्रेम नहीं। वह वासनामूलक है अतः गर्ह्य है और हेय है। उन्होंने प्रेम के दो विभाग किये हैं - पार्थिव और अपार्थिव। पार्थिव प्रेम लौकिक है और जब यह वासना से रहित हो जाता है तो अपार्थिव बन जाता है। प्रेम का यही रूप ब्रह्म-प्राप्ति का भी कारण हो जाता है।

देव ने संयोग और वियोग शृंगार को बड़े ही सुन्दर ढंग से वर्णित किया है। संयोग में रूप-पान, अधर-पान, चुम्बन, आलिंगन, रति-क्रीड़ा के नाना रूप, विविध नायिकाओं के हाव-भाव आदि पर बड़ी प्रखरता से प्रकाश डाला है। देव के इस चित्रण में तीक्ष्णता के साथ तल्लीनता भी है। संयोग में परिहास का इतना पुट नहीं है, जो उनकी प्रारम्भ से ही वैराग्यमूलक भावना का परिणाम है परन्तु परिहास सर्वथा उपेक्षित भी नहीं हुआ है।

विरह के चित्रण में देव सभी कवियों से श्रेष्ठ हैं। इन्होंने विरहजन्य मानसिक दशाओं का बड़ी सूक्ष्मता से वर्णन किया है। इस विषय में उन्होंने

कल्पना के घोड़े नहीं दौड़ाए हैं वरन् अनुभूतियों को साकार रूप दिया है। विरह-वर्णन में कोई भी उक्ति उपहास के योग्य नही है। इनका खण्डिता का चित्रण तो अपनी समानता नही रखता।

देव का वैराग्य—देव वैरागी नही थे। उनका प्रारम्भिक जीवन बड़ा ही सरस रहा होगा क्योंकि उन्होंने शृंगार का वर्णन और उसमे प्रधानतः नायिका का वर्णन बड़ी अनुरक्ति के साथ किया है। उनके शृंगार के ग्रन्थों में भी क्रमशः जो प्रेम का उज्ज्वलतर रूप हमें मिलता है, उससे ज्ञात होता है कि उनके अतिशय राग को किसी कारणवश सम्भवतः प्रेम मे बाधा या किसी असफलता के कारण व्याघात लगा था और उनके मानस में वैराग्य की तरंगें उठने लगी थीं, जिन्होंने उनकी ७० वर्ष की अवस्था में तूफान का रूप धारण कर लिया। वास्तव मे वही राग विराग मे परिणत हो गया।

किसी भी वस्तु की अति या पराकाष्ठा अन्ततोगत्वा स्वयं उसी के क्षेत्र मे एक क्रान्ति किया करती है। उन्नति का अन्त अवनति देखा गया है और सुख की चरमावस्था प्रायः दुख के पहाड़ गिराया करती है। यह एक निर्विवाद सत्य है। इसी प्रकार जब मनुष्य का विलासी जीवन अत्यन्त सुख का अनुभव करने लगता है तो कोई न कोई बात या घटना सहसा उसमें बाधा डालती है और जीवन का सारा मजा किरकिरा हो जाता है—सारा गुड़ गोबर हो जाता है। रीतिकालीन अधिकांश कवियों की प्रारम्भिक और अन्तिम रचनाओं को देखा जाए तो ज्ञात होगा कि उनमें भी अन्तिम रचनाओं में विरक्ति की भावना मिलती है। देव ने अपने जीवन में स्थान-स्थान पर जाकर सुख भोगा और जीवन का पूर्ण आनन्द उठाया परन्तु प्रेम को किसी असफलता ने या फिर किसी स्थायी आश्रय के प्रभाव ने उन्हें थका दिया और वे वैरागी हो गए।

शृंगारिक रचनाएँ करते हुए भी उन्होंने प्रेमचन्द्रिका में प्रेम का जो उज्ज्वल रूप बतलाया है और उसका जो माहात्म्य स्थापित किया है, उससे हम सहज ही जान सकते है कि उनका मन वासना में दुर्गन्ध देखने लगा था। तदनन्तर देव-चरित्र और देव-मायाप्रपंच में तो स्पष्ट ही उनकी विरक्ति एवं भक्तिभावना दीखती है। तत्पश्चात् उन्होंने जगद्दर्शन-पचीसी, आत्मदर्शन-पचीसी और तत्वदर्शन-पचीसी नामक ग्रन्थ लिखे। जगद्दर्शन-पचीसी में उन्होंने जगत् का वास्तविक रूप प्रतिपादित किया। उन्होंने संसार को माया का प्रपञ्च बतलाया। माया स्वयं असत्य है परन्तु

उसके असीम प्रभाव से दृश्यमान् जगत् सत्य-सा भासित होता है। सम्पूर्ण संसार उसी के वश है। प्राणी जानता है कि मृत्यु अवश्यम्भावी है तथापि संसार के मनुष्य माया-जाल में अपने को जकड़े हुए हैं। संसार के दुख मनुष्य को वास्तविकता का परिचय कराते हैं और वे उसे आत्मदर्शन की ओर प्रेरित करते हैं। तब मनुष्य को जगत् का वास्तविक ज्ञान होता है और अपने को पहचानने के लिए उत्सुक होता है। वह माया को मिथ्या समझता है और अपने को दृश्यमान् जगत् से भिन्न ईश्वरीय अंश मानने लगता है। पुनः आत्मदर्शन से वह तत्व की खोज करता है। उसे एक व्यापक विराट् शक्ति का आभास मिलता है, पुनः वह उस शक्ति से तादात्म्य स्थापित करता है और अन्त में उसकी भेद-बुद्धि जाती रहती है।

इस प्रकार देव ने उपर्युक्त ग्रन्थों में जगत्, आत्मा और ब्रह्म का स्वरूप सूक्ष्मतः किन्तु बड़ी सुन्दरता से प्रतिपादित किया है।

सैद्धांतिक दृष्टि से देव को हम इन ग्रन्थों के आधार पर अद्वैतवादी नहीं मान सकते क्योंकि यद्यपि उन्होंने इनमें अद्वैत का प्रतिपादन किया है तथापि राधाकृष्ण विषयक सगुण भावना भी हमें मिलती है। देव पर शुद्धाद्वैत का प्रभाव दिखाई पड़ता है। परंतु एक विचित्र बात यह भी है कि इन वैष्णव सम्प्रदायों का प्रभाव होते हुए भी उन्होंने जगत्, जीव और ब्रह्म में अद्वैत बतलाया और माया को मिथ्या बतलाते हुए भी उसको परम शक्तिमती माना। वास्तव में यह उनके राग पर प्रचण्ड व्याघात का परिणाम था। अतः उनका वैराग्य बौद्धिक था, न कि तात्विक। इस बात की पुष्टि इससे भी होता है कि वैराग्यपरक ग्रंथों की रचना के पश्चात् भी वे अकबरअलीखाँ के आश्रय में गये और सुखसागर-तरंग नामक शृंगारिक ग्रन्थ समर्पित किया

देव का आचार्यत्व—देव अपनी सर्वांगपूर्ण कृतियों के बल पर आचार्य पद पर आसीन हुए यह प्रायः निर्विवाद है। उन्होंने दोषों को छोड़कर प्रायः सभी काव्यांगों का सविस्तर प्रतिपादन किया है। रस, रीति (गुण), शब्द-शक्ति, अलंकार और छन्द का बड़ा सुन्दर और सुसंगत विवेचन किया है। शृंगार के चित्रण में नायिका-भेद तो बड़ी विशदता से वर्णित हुआ है। साधारणतः भावविलास, भवानीविलास, कुशलविलास, रसविलास, सुजान-विनोद, शब्दरसायन और सुखसागरतरंग ये सभी ग्रंथ रीति ग्रंथ हैं परन्तु इनमें भावविलास, भवानीविलास और शब्द-रसायन ही प्रमुख हैं। भाव-विलास में केवल शृंगार का ही वर्णन है। भवानीविलास में शृंगार के अतिरिक्त अन्य आठ रसों का भी विवेचन है। नायिकाभेद उपर्युक्त सभी ग्रन्थों में वर्णित हुआ है। भावविलास में अलंकारों का भी निरूपण है परन्तु

सूक्ष्मतः। शब्द-रसायन इनका बड़ा उत्कृष्ट ग्रन्थ है। उसमें गुण, रीति, अलंकार और छन्दो का बड़ा सुन्दर विवेचन है।

देव ने रस का बड़ा शास्त्रीय विवेचन किया है। उन्होंने रस की परिभाषा मम्मटाचार्य के अनुसार ही की है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों द्वारा स्थायी भावों की पूर्ण वासना को रस कहते हैं। रस का परिपाक उन्होंने प्रेमपूर्ण हृदय में ही माना है। अतः शृंगार को उन्होंने बड़ा महत्व दिया है। वे नौ रसों में शृंगार, वीर और शांत को ही प्रधान रस मानते है और इनमे में भी शृंगार को ही मूल रस माना है क्योंकि वीर और शांत की उद्भावना क्रमशः इसी की भावना के उत्साह और इसी के निर्वेद से होती है।

इसकी निष्पत्ति के विषय मे वे भट्टलोल्लट का अनुसरण करते हुए नायक-नायिका के हृदय को ही रस का आश्रय मानते है। यद्यपि वे अभिनवगुप्ताचार्य के सिद्धातों को मानते हैं परन्तु वे उनसे इस विषय में कि रस की निष्पत्ति सहृदय में होती है, सहमत नहीं। वे शृंगार को ही मूल रस मानते हैं और शृंगार का स्थायी भाव रति वास्तव मे नायक और नायिका मे ही उद्भूत हो सकता है न कि अनुकर्त्ता स्त्री-पुरुष में या दर्शक मे। अतः उसका आश्रय केवल उन्हीं का हृदय हो सकता है।

रसों के भेदानुभेदों में भी इन्होंने मौलिकता दिखाई है, विशेषतः नायिका भेद में जो इनके व्यापक परिभ्रमण में प्राप्त हुए अनुभव का परिणाम था। रीतिकालीन अन्य कवियों ने नायिका-भेद का वर्णन जाति, गुण, कर्म, काल, अवस्था और दशा के अनुसार किया है परन्तु देव ने इनके साथ-साथ देश, प्रकृति और सत्व को भी ग्रहण किया है।

संचारियों के वर्णन में कुछ शास्त्रविरुद्ध विवेचन भी है। यथा—देव ने संचारियों के दो भेद माने हैं—तन-संचारी और मन-संचारी। तनसंचारियों से अभिप्राय सात्विक भावों से है और सात्विक भाव अनुभाव के अंतर्गत माने गए हैं।

देव ने आठ कामदशाओं के भी बड़े भेद किये हैं, जो उनकी अपनी सूझ है।

देव ने रीति से तात्पर्य गुण लिया है। मम्मट आदि आचार्यों ने माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन गुण माने हैं परन्तु उनसे पूर्व दण्डी आदि ने दस माने थे। देव ने भी दस ही गुण माने जो इस प्रकार हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओजस, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदार और कांति।

शब्द-शक्तियों के विवेचन में इन्होंने चार भेद करते हुए अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के साथ तात्पर्य नाम का एक चौथा भेद भी माना है। इस तात्पर्य नामक शब्द-शक्ति की स्थिति वाचक, लाक्षणिक एवं व्यंजक तीनों प्रकार के शब्दों में रहती है। शेष तीनों शक्तियों को उन्होंने मूलतः सभी शब्दों में माना है। शब्द से जैसे अर्थ की आवश्यकता होती है, वैसी ही शक्ति उस अर्थ के निकालने में सहायता देती है। इसलिए इन शब्द-शक्तियों के अनेकानेक विलक्षण भेद किये हैं, यथा—अभिधा में अभिधा, अभिधा में लक्षणा, अभिधा में व्यञ्जना, लक्षणा में अभिधा, लक्षणा में लक्षणा, लक्षणा में व्यञ्जना, व्यञ्जना में अभिधा, व्यञ्जना में लक्षणा और व्यञ्जना में व्यञ्जना। इनके अतिरिक्त और भी अनेक संकीर्ण भेद किये हैं जो नितांत नवीन हैं।

इन्होंने भाव-विलास में केवल ३९ अलंकार माने हैं परन्तु शब्द-रसायन में इनकी संख्या ७० मानी है, जिनमें ४० मुख्य हैं और ३० गौण। भाव-विलास में जिन अलंकारों का वर्णन है, उनका आधार दण्डी का काव्यादर्श है परन्तु शेष अलंकारों का आधार पता नहीं। इसी प्रकार असम्भव, अत्युक्ति और निषेध आदि अलंकार भी देव ने बड़ी विलक्षणता से परिभाषित किये हैं। काव्यलिंग, प्रतिवस्तूपमा और परिसंख्या जैसे कुछ प्रसिद्ध अलंकारों को इन्होंने परिगणित भी नहीं किया है।

शब्दालंकारों में इन्होंने चित्रालंकार को अनुप्रास और यमक का आधार मानते हुए विशेष रूप से वर्णित किया है परन्तु चित्रकाव्य को उन्होंने अधम काव्य लिखा है। एक स्थान पर वे इसे 'मृतक काव्य' या 'प्रेत काव्य' भी लिखते हैं।

अर्थालंकारों में इन्होंने उपमा और स्वभावोक्ति को मुख्य माना है। उपमा को तो अधिकांश संस्कृत के आचार्यों ने अनेक अर्थालंकारों की जननी एवं साधिका स्वीकृत किया है परन्तु स्वभावोक्ति को किसी ने भी अलंकार का मूल नहीं माना। काव्य-प्रकाश एवं साहित्य-दर्पण में स्वभावोक्ति एक साधारण अलंकार मात्र है। यद्यपि देव ने रीति-पद्धति में भामह और दण्डी का पर्याप्त अनुसरण किया है परन्तु इस विषय में उनसे सहमत नहीं क्योंकि भामह वक्रोक्ति को और दण्डी अतिशयोक्ति को अलंकारों का मूलाधार मानते हैं और स्वभावोक्ति इन दोनों अलंकारों के विपरीत है।

इनका छन्द-विवेचन बड़ा सुन्दर है, जिसकी विशेषता यह है कि एक ही छन्द में लक्षण और उदाहरण दिये हुए हैं। इन्होंने कहीं-कहीं गृहीत छन्दों

के अतिरिक्त छन्दों के नवीन भेद भी किये हैं, यथा सवैया के भेदों में मञ्जरी, अलसा आदि।

उपर्युक्त विवेचन से हम सहज ही इस परिणाम पर आते हैं कि देव ने सभी अलंकारों का बड़ा विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उनके विवेचन का शास्त्रीय आधार तो है ही, साथ ही कुछ मौलिकता भी है। देव इन काव्यांगों के स्वरूप से पूर्ण परिचित ही नहीं थे वरन् अपनी व्यापक दृष्टि और अनुभव के आधार पर इनके विधाता भी थे। अतः हम निःसंकोच भाव से कह सकते हैं कि देव आचार्य थे।

यहाँ तक यह तो सिद्ध हुआ कि देव आचार्य थे, अब यह समीक्षा करनी है कि वे किस कोटि मे आते हैं। हम हिन्दी के आचार्यों को तीन वर्गों मे विभक्त कर सकते हैं —(१) वे जिन्होने मम्मट के काव्य-प्रकाश और विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण के आधार पर काव्यांगों का विवेचन किया; (२) वे जिन्होंने भानुदत्त की रसमंजरी आदि के अनुसार केवल शृंगार का नायिकाभेद सहित चित्रण किया और (३) वे जिन्होने कुवलयानन्द तथा जयदेव के चन्द्रालोक आदि की शैली पर केवल अलंकारों का निरूपण किया।

देव नें काव्य के सर्वागों का निरूपण किया है अतः वे प्रथम वर्ग के आचार्यो में से हैं। केशव, कुलपति मिश्र, श्रीपति, दास और प्रतापसाहि भी इसी कोटि में आते हैं परन्तु ये निश्चित ही देव से श्रेष्ठ हैं। केशव संस्कृत के महान् पंडित थे। उन्होने रस और अलंकारों का अत्यन्त सुन्दर शास्त्रीय विवेचन किया है। देव ने स्वयं उनकी बड़ी प्रशंसा की है और उन्हे अनुकरणीय कवि लिखा है, अतः केशव निर्विवाद रूप में देव से बढ़कर हैं। परन्तु केशव की अपेक्षा देव का विषय अधिक व्यापक है क्योंकि देव ने शब्दशक्ति, गुण, रीति एवं छन्दों का भी विवेचन किया है। कुलपति मिश्र ने काव्य के सभी अंगों का विवेचन शुद्ध शास्त्रीय ढंग से बड़ी गम्भीरतापूर्वक किया है। वे देव की भांति मौलिकता की सनक में विलक्षण भेदानुभेदों के चक्कर में नहीं पड़े हैं। उनका विवेचन वास्तव में देव की अपेक्षा कहीं प्रौढ़ है। श्रीपति और दास मे देव की अपेक्षा एक बड़ी विशेषता यह है कि उनके लक्षण बड़े स्पष्ट हैं तथा उन्होंने व्यावहारिक पद्धति को अपनाया है। प्रतापसाहि के भी प्रौढ़ काव्यांग-विवेचन को देव नहीं पा सकते। इन सभी आचार्यों में दास का स्थान सर्वोच्च है क्योंकि उनकी भाषा, भाव और शैली का स्तर इन सबसे श्रेष्ठ है। वास्तव में इन पाँचों में दास सर्वश्रेष्ठ और देव सबसे नीचे हैं।

देव पर अन्य कवियों का प्रभाव—देव के रीतिग्रन्थों से स्पष्ट विदित होता है कि वे संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। अतः उन्होने संस्कृत ग्रन्थों को भी देखा होगा तथा अपने पूर्ववर्त्ती रीति-ग्रन्थों के रचयिता या कृष्णभक्त कवियों की रचनाओ को देखा या सुना होगा। पूर्व ग्रन्थों के पर्यालोचन के पश्चात् जब कोई ग्रन्थ बनाया जाता है तो उस पर उनका किसी न किसी रूप मे प्रभाव अवश्य पड़ता है। देव पर हमें संस्कृत-ग्रन्थों का इतना प्रभाव नहीं मिलता परन्तु यत्र-तत्र कुछ प्रभाव दीख पड़ता है, यथा प्रसन्नराघव के निम्न श्लोक का देव के निम्न पद्य पर प्रभाव स्पष्ट है—

प्रसन्न राघव— मांसं कार्श्याद्गिगलगपां बिन्दवो बाष्पपातात्।
तेजः कान्तापहरणवशाद्वायवः श्वासदैर्घ्यात् ॥
इत्थं नष्टं विरहवपुषः तन्मयत्वाच्च शून्यम्।
जीवत्येवं कुलिशकठिनो रामचन्द्रः किमेतत् ॥

देव— सांसन ही सौं समीर गयो अरु आंसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
देव जियै मिलिबेई की आस कि आस हू पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि ॥

देव पर पूर्ववर्त्ती सूर, केशव, बिहारी और मतिराम का प्रभाव तो निर्विवाद है। कुछ उदाहरण देकर इसे स्पष्ट किया जाता है, जिनमे भाव-साम्य के साथ साथ शब्द-साम्य भी है—

सूरदास— भले श्याम वह भली भावती, मिले भले मिलि भली करी।
देव— लाल भले हो भली सिख दीन्ही भली भई आजु भले बनि आये।
सूर— कंकन चुरी किंकनी नूपुर पग जनि बिछिया सोहत।
अद्भुत धुनि उपजत························॥
देव— कंकन किंकिनि रव अनूप सुर।
केशव— नाह सौ सनेह कीजै नाहीं सौ न कीजिए।
देव— देव जू देखो विचारि अहो तुम्हें नाहीं सों नातो कि नाह सों नातो।
केशव— खात खवावत ही जु बिरी, सु रही मुख की मुख हाथ की हाथहि।
देव— देव कछू रद बीरी रची री सु हाथ की हाथ रही मुख की मुख।
केशव— गो रस की सौ बबा की सौं तोहि किवार लगी कहि मेरी सौं को ही।
देव— ब्राह्मण की सौं बबा की सौ मोहन मोहि बबा की सौं गोरस की सौं।
बिहारी— ग्रीषम वासर सिसिर निसि, पिय मो पास बसाय।
देव— लै सिसिरौ निसि, दै दिन ग्रीषम आंखिन राखि गए ऋतुपावस।
बिहारी— ऊख मयूख पियूख की तौ लगि भूख न जाय।
देव— पीवत हू पिये प्यास बुझै न अहूख महूख न ऊखन हेरें।
बिहारी— दुहूँ ओर ऐंची फिरे फिरकी लों दिन जाय।
देव— धाई फिरै फिरकी-सी दुहूँ दिसि, देव दुवौ गुन जोर के ऐंची।

मतिराम— गोरी की गुराई गोरे गावन गहगही।
बेला को फुलेल, फुली बेलि सी लहलही।
देव— गहगह्यो गोरी को अनूप लहलह्यो रूप।
मतिराम— जागत हू पिय हिय लगी, हिलकी तऊ न जाइ।
देव— बड भागी लला उर लागी जऊ, तिय जागी तऊ हिलकी न रहै।
मतिराम— जोग तब करैं जो वियोग होइ स्याम को।
देव— जोग करि मिलैं जो वियोग होइ बालम को।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि देव अपने पूर्ववर्ती कवियों से किस प्रकार प्रभावित थे। परन्तु इससे उनकी मौलिकता में कोई बाधा नहीं आती क्योंकि यदि कोई कवि अपनी अनेक रचनाओं में दस-पाँच स्थलों पर कुछ अनुकरण कर लेता है तो उससे उसकी प्रतिष्ठा में या प्रतिभा में कोई कमी नहीं आती।

देव का परवर्ती यों पर प्रभाव—देव का रीति-ग्रन्थकार की दृष्टि से और कवि की दृष्टि से भी परवर्ती कवियों पर प्रभाव पड़ा। उनमें से कुछ प्रमुख कवियों पर वह प्रभाव विस्तार-भय से केवल एक एक उदाहरण देकर ही स्पष्ट किया जाता है।

देखिये रसलीन ने मुग्धा का अवस्था-क्रम शब्दसहित देव से ही ग्रहण किया है—

देव— तीन मासु अंकुरित नवजोवन नव मुग्धासु।
नवल बधू षट् मास लों वर्ष तेरही तासु॥
नवयौवना सु चौदही पन्द्रह नवल अनंग।
सोरह वर्ष सलज्ज-रति मुग्धा पाँचौ अंग॥
रसलीन— प्रथम अंकुरित जोवना तीनि मास लों होइ।
नवल बधू षट्मास लौं यह निश्चय जिय जोइ॥
बहुरि चौदहें बरस पुनि नव-यौवना निवास।
नवल-अनंगा पंद्रहें बरस करत परकास।
होय सोरहें बरस पर पुनि सलज्ज-रति नारि॥
देव— भली प्रीति पाली बनमाली के बुलाइबे कों,
मेरे हेत आली! बहुतेरे दुःख पाए हैं।
दास— धनि धनि सखि मोहि लागि तू, सहे दसन नख देह।
परम हितू है लाल सों, आई राखि सनेह॥
देव— मालिन ह्वै हरि माल गुहै.........।
बेनीप्रवीन— मालिन ह्वै हरवा गुहि देत।
देव— चढ़ि काम के धाम ध्वजा फहरात, सुमीनन काम कहा जल सों।
बेनीप्रवीन— जनमैं ते पियूष पै सिन्धु लह्यो, तिन मीनन काम कहा जल सों।
देव— पूरन प्रीत हिये हिरकी खिरकी खिरकीन फिरै फिरकी सी।

पद्माकर— झाकति है खिरकी में फिरै थिरकी थिरकी खिरकी खिरकी मे।

देव— देव कछू अपनो बसु ना, रस-लालच लाल चितै भईं चेरी।
बेगिहि बूड़ि गयी पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी॥

घनानन्द— माधुरी-निधान प्रान प्यारो जान प्यारो तेरो
रूप-रस चाखे आँखे मधुमाखी ह्वै गईं॥

उपरिलिखित उद्धरणों से देव का अपने परवर्त्ती कवियो पर प्रभाव स्पष्टतः लक्षित हो रहा है। उन्होने केवल भाव ही नही शब्द भी ज्यों के त्यों ग्रहण किये है।

देव की भाषा—देव की भाषा मुख्यतः ब्रज है, जिसमें यत्र-तत्र संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, बुंदेलखंडी और फारसी के अनेक शब्द तत्सम रूप में या कुछ विगड़कर प्रयुक्त हुए है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते है—

वारी कोटि इंदु अरविंद-रस-बिंदु पर,
माने ना मलिंद-बिंद सम के सुधासरा।

इसमें कोटि, इंदु, अरविंद, बिंदु, मलिंद आदि संस्कृत के तत्सम शब्द है। इसी प्रकार अनेक तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। तत्सम शब्दों के प्रयोग मे देव ने कहीं-कही समास शैली को भी अपनाया है, यथा—

''करुनानिलय कोटि-कंदर्प-दर्पापहारं,
महासुन्दर-श्याम-मूर्ति-छवि-श्रीघटनं।

देव ने संस्कृत के अतिरिक्त कुछ प्राकृत एवं अपभ्रंश के शब्दों का भी प्रयोग किया है, जैसे—लोयन, मयन, जूह, बिज्जु आदि।

अंझा आदि बुंदेलखडी शब्दों का व्यवहार भी कहीं-कहीं मिलता है।

मुस्लिम शासन होने के कारण फारसी के अनेक शब्द उस समय भाषा में प्रयुक्त होने लगे थे। सूर, तुलसी केशव, भूषण, बिहारी आदि प्रतिष्ठित कवियों ने फारसी शब्दों का प्रयोग किया ही है। देव की रचनाओं में भी हमें अनेक फारसी के शब्द मिलते हैं, यथा—महल, कलेजा, जहाज, रूख, ज़ोर, ग़रीब, कमान और किर्च आदि।

देव की भाषा अनुप्रासबहुल है। रीतिकालीन कवियों में अनुप्रास की प्रवृत्ति बड़ी प्रबलता से रही, देव भला उससे वञ्चित क्यों रहते। इनकी भाषा में अनुप्रास प्रायः प्रयुक्त हुआ है। परन्तु वह अनुप्रास-बाहुल्य कृत्रिम प्रयास का परिणाम नहीं है वरन् प्रतिभाशील कवि की समर्थ लेखनी द्वारा सहज उद्भावों का अंकन है, जिसमें शब्दों का चयन खोज के पश्चात् या मस्तिष्क को खुरचकर नहीं हुआ है वरन् निसर्गतः ही ऐसा शब्द-संगठन हुआ है। अतएव इनकी रचना में वह कृत्रिमता दृष्टिगोचर नहीं होती जो केशव की

रचना में मिलती है और इसलिए शब्द-सौष्ठव और सौकुमार्य प्रचुर मात्रा में है। अनुप्रास वहाँ अखरता है, जहाँ अनुप्रास की भावना मूल भाव में बाधा डालती है। यदि मूल भाव के प्रकाशन में अनुप्रास की ललित छटा स्वतः ही छिटके तो दोष कोई दोष नहीं है। देव की ऐसी रचना के एक दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

डार द्रुम पलना, बिछौना नव पल्लव के,
सुमन भँगूला सोहै तन छवि भारी है।
पवन झुलावै, केकी कीर बहरावें देव,
कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी है।
पूरित पराग सो उतारो करै राई लोन,
कंजकली-नायिका लतानि सिर सारी है।
मदन महीप जू को बालक बसंत, ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी है॥

*   *

बैरागिन किधौं, अनुरागिनि, सुहागिनि तू,
'देव' बड़भागिनि लजाति औ लरति क्यों?
सोवति, जगति, अरसाति, हरषाति, अन-
खाति, बिलखाति, सुख मानति, डरति क्यों?
चौंकति, चकति, उचकति, औ बकति, बिथ-
कति औ थकति ध्यान, धीरज धरति क्यों?
मोहति, मुरति, सुतराति, इतराति, साह-
चरज सराहै, आहचरज मरति क्यों?

इन उद्धरणों में हम देखते हैं कि शब्द-योजना सहज रूप में ही हुई है और उसने सौन्दर्य को अधिक बढ़ाया है। परन्तु अनेक स्थानों पर देव ने अनुप्रास, यमक और तुक के निमित्त शब्दों को बिगाड़ा भी बहुत है, उदाहरणतः गुझाई (गुह्य), घुखोत (धोखा देता है), अचान (अचानक), सरीक में (सखियों में), गाढ़ति (कढ़ाई), उतरायल (उतायल), ईछी (इच्छा), अभिख्या (अभिलाषिणी), विद्वोत (विदित), महचर, चहचर आदि।

इन्होंने अनेक ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है, जो निरर्थक हैं, जैसे—वावस, चाड़िली, तीभ, सीजी, हुद्र, तरावक आदि।

इनकी रचना में व्याकरण की अशुद्धियाँ तो बहुत हैं, जिनमें कुछ का रूप भी बिगाड़ दिया है, यथा—

टिकासरो (टेक+आश्रय), परौढ़ (प्रौढ़) आदि।

कुछ शब्दो में वचन-दोष भी है और कुछ मे लिंग-दोष, जैसे—

नैनन ते सुख के अँसुवा मनों और सरोजन ते सरक्यौ परै।

इसमें अँसुवा बहुवचन है अतः क्रिया भी बहुवचन होनी चाहिए परन्तु 'सरक्यौ' रूप एक वचन है। इसी प्रकार 'कुच' का प्रयोग द्विवचन में होना है परन्तु देव ने 'उचक कुच कंक कदंब कली सी' में एकवचन मे प्रयुक्त किया है साथ ही इसम लिंग-दोष भी है क्योंकि कुच पुल्लिग है और सी स्त्रीलिंग।

क्रिया के रूपों मे भी कही-कही बिगाड़ दीख पड़ता है, यथा--पुखोत है (पोषता है), दुखोत है (दुख होता है), भरियतु है. करियतु है, घहरिया, छहरिया आदि।

देव का काव्य-सौष्ठव—देव बहुज्ञ थे। उन्होंने शास्त्र-पर्यालोचन एवं देश-पर्यटन से बहुत कुछ सीखा था। अनेक देशों की नायिकाओं का चित्रण यद्यपि विलक्षण हो गया है परन्तु उसमें काव्य-सौन्दर्य भी अनुपम है। रीति-पद्धति में उन्होंने संस्कृत के रीति-ग्रंथों का बहुत कुछ अनुकरण किया परन्तु अनेक स्थानों पर मौलिकता भी है जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। उन्होंने उपमा और स्वभावोक्ति को ही अलंकारों का मूलाधार माना है। हमें यह विवाद नहीं करना कि वे किस विषय में कहाँ तक सत्य थे परन्तु इतना अवश्य कहना पड़ता है कि इन अलंकारों का सहारा लेकर उन्होंने बड़े सुन्दर चित्र खींचे। देव मूलतः शृंगारी कवि थे अतः ये चित्र शृंगारिक कविताओं में ही अधिक सुन्दर बन पड़े हैं। ग्रीष्म की रात्रि का एक मनोरम चित्र देखिये—

फटिक सिलानि सों सुधार्‌यौ सुधा-मन्दिर,
उदधि-दधि कौ सो उफनाय उमगै अमंद।
बाहर तै भीतर लौं भीति न दिखाई देत,
छीर कै से फेन फैली चाँदनी फरस बन्द।
तारा सी तरुनि तामैं देव जगमग होति,
मोतिन की ज्योति मिल्यौ मल्लिका कौ मकरंद।
आरसी से अम्बर मैं आभासी उज्यारी ठाढ़ी,
प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब सो लगत चन्द॥

ग्रीष्म की शीतल रात्रि में सर्वत्र चाँदनी छिटकी हुई है। उसमें स्फटिक शिलाओं से निर्मित सौध-भवन दधि-समुद्र के समान लग रहा है और संगमर-मर के फर्श पर फेनिल दूध-सा फैला हुआ है। उस फर्श पर गौरवदना युवतियाँ मोती एवं मल्लिका की मालाओं से सुसज्जित खड़ी हैं और उनके बीच कान्तिमती राधा है। उधर आकाश भी चाँदनी से ओतप्रोत है। उसने

माना एक आरसी का रूप धारण कर लिया है, जिसमें चन्द्र राधा का और तारे तरुणियों के प्रतिबिम्ब हैं ।

देव की कविता में सुन्दर चित्रों के अतिरिक्त व्यञ्जना का भी बड़ा महत्व है । संध्या समय प्रिय के पास भेजी हुई सखी को प्रातः रति-चिह्नों से युक्त देखकर उसके प्रति एक खण्डिता नायिका के निम्न वचन में कितना व्यंग्य भरा है—

> साँझ ही स्याम को लेन गई, सु बसी बन में सब यामिनि जाय कै।
> सीरी बयारि छिदे अधरा, उरझो उर झाखर झार मंझाय कै।
> तेरी सी को करिहै करतूति, हुती करिबे सु करी तैं बनाय कै।
> भोर ही आई भटू इत मो दुखदाइनि काज महा दुख पाय कै ॥

सखी संध्या समय गई थी परन्तु अधरों पर दन्त-क्षत एवं उरोजों पर नख-क्षतों को लिए हुए प्रातः आई । नायिका धीरा खण्डिता है अतः धैर्यपूर्वक व्यंग्य से कहती है कि हे आली ! तू संध्या समय श्याम को लेने गई थी, सारी रात तैंने श्याम को ढूंढ़ा (पर श्याम न मिले), अरी तेरे तो अधर भी ठंडी वायु से छिद गये और छाती झाड़-झखाड़ों में इलझ कर छिल गई । तूने मेरे लिये जो 'करतूति' की वैसी भला कौन कर सकता है (अर्थात् बड़ा बुरा काम किया, ऐसा काम कोई नहीं कर सकता था—यह व्यंग्य है) अरी भटू ! मुझ दुखदायिनी के निमित्त अपार कष्ट झेलकर तू सवेरे ही आ गई ।

यह पद्य यों तो सर्वांशतः व्यंग्यपूर्ण है परन्तु 'करतूति' 'भोर ही', 'भटू' एवं 'दुखदाइन' शब्दों मे बड़ा मनोहर व्यंग्य भरा है । 'करतूति' से तो 'बुरा कर्म' स्पष्ट ही व्यंजित है । 'भोर ही' में 'ही' कितना बल दे रहा है कि अभी आ गई, अभी और क्रीड़ा करती । 'भटू' शब्द से दीनता और रोष दोनों ही व्यंजित हो रहे हैं और 'दुखदाइन' शब्द तो बड़ा ही हास्यप्रद व्यंग्य कर रहा है कि मेरा भेजना तेरे दुख का कारण हुआ । जो तूने मेरे प्रिय के साथ रति-संगर में उठाया है ।

देव की रचनाओं में सादृश्यमूलक अप्रस्तुतों का एवं साधर्म्यमूलक उपमानों का प्रयोग पर्याप्त मिलता है । कहीं-कहीं पर मूर्त्त पदार्थों को अमूर्त्त अप्रस्तुतों से व्यक्त किया गया है, जो बड़ी सुन्दर योजनाएँ हैं । इनका उक्ति वैचित्र्य तो बड़ा स्तुत्य है । एक स्थान पर वे आँखों पर मानव-क्रियाओं का आरोप करते हुए लिखते हैं—

> धार में धाइ धँसी निरधार ह्वै. जाय फँसीं उकसीं न अँधेरी।
> री अँगराय गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरीं न घिरीं नहिं घेरीं ॥

इनके अलंकारों में स्वाभाविक छटा है जिसे छिटकाने के लिये यद्यपि

इन्होंने घनाक्षरी और सवैया जैसे बड़े छन्दों को अपनाया है परन्तु कहीं भी चित्रों को चारु रूप देने के लिये व्यर्थ एवं भद्दे शब्द-रंगों को नहीं भरा है।

सौष्ठव की दृष्टि से इनका काव्य केशव, बिहारी और मतिराम से भी श्रेष्ठ है। केशव का कलापक्ष देव से समृद्ध है परन्तु काव्य में कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष को विशेष महत्व दिया जाता है। देव के काव्य में भावपक्ष अधिक प्रबल है। जैसी अभिव्यंजना-शक्ति हमें देव में मिलती है, वैसी केशव में नहीं। देव के भाव अधिक स्पष्ट और भाषा अधिक परिष्कृत है। भाषा में संगीत की ध्वनि भी है। बिहारी और देव को लेकर आधुनिक साहित्य में बड़ा विवाद रहा। पं० बालदत्त मिश्र एवं मिश्रबन्धुओं ने देव को बिहारी से उच्च स्थान दिया, पुनः पद्मसिंह शर्मा और ला० भगवानदीन ने देव से बिहारी को ऊँचा बिठा दिया। इस विषय में अनेक लेख भी लिखे गये। कारण यह था कि यद्यपि देव की अनेक सरस कृतियाँ विद्यमान थीं परन्तु बिहारी की सतसई के एक-एक दोहे ने रसिकों के मन पर ऐसा प्रभाव जमाया कि वह उनके लिए एक पाठ की ही वस्तु हो गई। बिहारी की सतसई में चमत्कारप्रियता स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है, जिसने कहीं कहीं रसाभिव्यक्ति में भी बड़ी बाधा डाली है। चमत्कारप्रियता हमें कुछ सीमा तक देव में दीख पड़ती है परन्तु इनके छन्द बड़े हैं, यथा घनाक्षरी और सवैया जबकि बिहारी ने बहुत ही छोटे छन्द दोहा को अपनाया है, जिसमे या तो भाव ही रखा जा सकता है या फिर चमत्कार ही दिखाया जा सकता है। अतः बिहारी में हमें वह तन्मयता और विषय-प्रतिपादन की पूर्ण क्षमता नहीं दीख पड़ती जो देव में है। देव का शब्द-चयन भी बिहारी से कहीं अधिक नैसर्गिक और प्रभावोत्पादक है। मतिराम के काव्य में सौकुमार्य एवं मञ्जुलता अधिक है परन्तु भावों की सूक्ष्मता में वे देव को नहीं पा सकते क्योंकि उनकी अनुभूति इतनी प्रौढ़ नहीं, जितनी देव की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि देव काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से रीतिकालीन प्रमुख कवियों में एक ऊँचा स्थान रखते हैं।